सन्त-वाणी

भाग-३

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दाबन

सन्त वाणी

भाग-३

मानव सेवा संघ, प्रकाशन

वृन्दावन

प्रकाशक :

मानव सेवा संघ

वृन्दावन–२८११२१
(मथुरा)

★

★

प्रथम बार –६०००

द्वितीय बार –४०००

★

मूल्य : रु० ७.५० (सात रुपये पचास पैसे)

★

मुद्रक :

इलाइट प्रिंटर्स,

६४२, बाल्दा रोड, निशातगंज
ल ख न ऊ

फोन : ७१६६६

सन्त वाणी

भाग–३

निवेदन

१. संत अमर हैं। उनकी वाणी अमर है।

२. इस वाणी के आदर में सत्य का आदर है।

३. इस वाणी के आदर में जीवन का आदर है।

४. इस वाणी के आदर में संत का आदर है।

५. इस वाणी के आदर में संघ का आदर है।

—मानव सेवा संघ

--:-:--

अनुक्रमणिका

★-※-★

॥ ॐ ॥

प्रार्थना

[प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है]

मेरे नाथ,
आप अपनी
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जायं

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

भूमिका

श्री महाराज जी के द्वारा अमूर्त सत्य को मूर्त शब्दों में प्रकाशित करने की लीला का संवरण हो चुकने के बाद, संत-प्रेमी, संघप्रेमी, और सत्संग प्रेमी भाई-बहनों में यह संकल्प जोर पकड़ने लगा कि संतवाणी को सुरक्षित एवं सुलभ बनाये रखने का प्रयास होना चाहिए। श्री स्वामीजी महाराज जब तक सशरीर विद्यमान थे, कुछ प्रेमी जनों ने उनकी विशेष स्वीकृति लेकर उनके कुछ प्रवचनों को टेप में रिकार्ड कर लिया था। विशेष स्वीकृति लेने का अर्थ यह है कि सामान्यत: प्रवचनों को टेप रिकार्डिंग करके रखना श्री महाराज जी ने साधकों के लिए विशेष हितकर नहीं माना था। प्रेमीजनों के विशेष आग्रह पर कभी-कभी स्वीकृति दे देते थे। ऐसी दशा में उनके प्रवचनों की Arranged Recording कभी नहीं हो सकी। जब जैसा बन पड़ा Record कर लिया गया। उनके ब्रह्मलीन हो जाने के बाद उनके ही स्वर में जीवनोपयोगी अनमोल वचनों को सुनकर जीवनदायी प्रेरणा लेने के लिए उनके चुने हुए टेप रिकार्डेड प्रवचनों के Cassettes तैयार कराये गये। बारह कैसेट्स का एक सेट तैयार हुआ। श्री महाराज जी की अमृत-वाणी का यह सेट सत्संग प्रेमियों के द्वारा बहुत पसन्द किया गया। साधकों के साधनयुक्त जीवन के निर्माण का यह एक आधार बन गया। संघ की शाखाओं द्वारा संचालित सत्संग की बैठकों में श्री महाराज जी के वचनों से सजीवता आ गयी। मानव-जीवन पर प्रयुक्त गूढ़ दार्शनिक तथ्यों की सरल अभि-व्यक्ति श्री महाराज जी की ही प्रेम-पूर्ण सशक्त ध्वनि में सुनकर प्रेमीजनों के हृद्तंत्री के तार स्पन्दित हो उठते हैं। यह तथ्य

आज श्री महाराज जी के साकार विग्रह के लुप्त हो जाने की स्थिति में अत्यधिक अलभ्य उपलब्धि मालूम हो रही है।

जिस समय रिकार्डेड प्रवचनों के कैसेट्स बनाये जा रहे थे उस समय यह विचार भी आया कि कैसेट्स में जो वचन हैं वे इतने गूढ़ हैं कि उनका अध्ययन, मनन, पठन, पाठन बारम्बार करते रहने पर ही उनको हृदयंगम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो सत्संग-प्रेमी टेप रिकार्डिंग मशीन तथा कैसेट्स अपने पास नहीं रख पायेंगे उनके लिए भी ये अनमोल प्रवचन सुलभ होने चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये पूरे सेट के प्रवचनों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है। सन्तवाणी भाग २ (दो) में कैसेट्स संख्या १ से ६ तक के प्रवचन प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत संग्रह संतवाणी भाग (३) में कैसेट्स संख्या ७ से १२ तक के प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं। सन्तवाणी माला का यह तीसरा पुष्प आपकी सेवा में प्रस्तुत है। इस संग्रह में प्रवचन बिल्कुल कैसेट में भरे हुए प्रवचन के अनुरूप हैं। कैसेट्स सुनते समय भी जिन-जिन वाक्यों पर आप विशेष रूप से विचार करना, अध्ययन तथा मनन करना चाहें उन वाक्यों को इस संग्रह में रेखांकित करके सरलता से कर सकते हैं। सत्संग प्रेमी भाई-बहनों की सेवा में सप्रेम समर्पित सन्तवाणी माला का तीसरा पुष्प सब प्रकार से आपके लिए हितकारी हो, इसी सद्भावना के साथ——

विनीता :
देवकी

वृन्दावन
१८-६-८३

७

(अ)

ईश्वर जीवन तत्व है, समस्त उत्पत्ति का आधार एवम् समस्त प्रतीति का प्रकाशक है। आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति से उदित प्रियता ही ईश्वर प्राप्ति की मूल साधना है। भक्त के जीवन में भगवान के प्रति प्रियता की वृद्धि जब होने लगती है तो उसकी मधुरता में भक्त का सम्पूर्ण अहम् ही रूपान्तरित होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है, यही भगवत् मिलन है।

१. भगवान का जो अवतार होता है वह भक्तों के मन की बात पूरी करने के लिए होता है।

२. भगवत् चरित्र की कथायें श्रुति को समझाने की एक विधि है, कृष्ण चरित्र की विविध लीलाओं से प्रकट होता है कि श्री कृष्ण में यह चमत्कार है कि वे अपने प्रेमियों के मन को अपनी ओर खींच लेते हैं।

—०—

प्रवचन :

तीन प्रकार की लीलायें आपको देखने को मिलेंगी। कुछ वन की, कुछ ब्रज की और कुछ निकुंज की। बहुत से लोग सन्देह करते हैं कि न्याय और प्रेम एक साथ कैसे हो सकता है? हो सकता है। कृष्ण चरित्र में एक बड़ा सुन्दर चित्रण इस बात का है। पूतना के साथ श्री कृष्ण ने न्याय भी किया है और प्रेम भी किया है। आपने सुना ही होगा कि पूतना मां का वेश बना कर गयी। मैया यशोदा ने अपने लाला को खिला-पिला कर सुला दिया था और उन्हें छोड़ कर काम में लग गई। इधर पूतना कपट की मां बन कर यशोदा के पास आयी और उसने यशोदा से कहा–'अरी यशोदा! तू बड़ी बावरी है, हाय-हाय तू ने लाला अकेला सुला दिया है, मैं तेरे लाला को गोद में ले लूं?' तो प्रेमी लोग बड़े भोले होते हैं। यशोदा ने कहा–हाँ-हाँ। ले लो, तुम्हारा ही लाला है, मेरा क्या है।' पूतना ने गोद में ले लिया। अब देखिए कृष्ण न्याय भी करते हैं और प्रेम भी! न्याय इस बात का कि वह श्रीकृष्ण को मारना चाहती है तो उसने बिष लगा हुआ स्तनाग्र श्रीकृष्ण के मुख में दे दिया। छोटा-सा नन्हा-सा बालक जब पीने लगा तो विष तो पी ही गया, उसके प्राण को भी पी गया। ये तो न्याय होगया। और प्रेम यह है कि उसे गौलोक दे दिया। जो गति यशोदा को दी वही पूतना को दी–यह प्रेम है।

ये कथायें जो होती हैं–ये श्रुति के ज्ञान को समझाने का बड़ा सुन्दर ढंग है। पुराण और कुछ नहीं हैं, जो श्रुति का

ज्ञान है उसे समझाने की एक विधि है। आप उसको चरित्र मानो, बड़ी सुन्दर बात है, कथानक मानो अथवा आपकी जो मरजी हो सो माने। तो श्रीकृष्ण ने सारे व्रजवासियों के मन को अपनी ओर खींच लिया। क्योंकि जब पूतना के प्राण खिचे तो वह श्रीकृष्ण को लेकर उड़ी। और इस घटना के घटते ही सारे व्रजवासी एकदम आकुल, व्याकुल हो गये और सबका मन श्रीकृष्ण में लग गया। श्रीकृष्ण में यही तो चमत्कार है कि वह सबके मन को स्वयं खींचते हैं–यह नहीं कि मन को लगाना पड़े। वे अपने आप खींच लेते हैं, किन्तु कब ? जब उन्हें कोई अपना मान ले तब। बिना अपना माने प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता और अपना मानने के लिए, आपने अनेक बार श्रवण भी किया है, सोचा भी है समझा भी है कि निर्ममता और निष्कामता आवश्यक होती है। तो समस्त व्रजवासी श्रीकृष्ण को अपना मानते हैं और उनके पास जो कुछ भी है उसे वे श्रीकृष्ण का ही जानते है, किसी और का नहीं। एक बात। दूसरी बात है कि व्रज के रस में सख्य, वात्सल्य और मधुर–तीन प्रकार के भाव हैं; और मधुर में भी परकीया भाव है, स्वकीया भाव नहीं है।

सख्य-रस की दृष्टि से श्रीकृष्ण अपने सखाओं के साथ बछड़ा चराने के लिए गये और वहां जाकर वन-भोजन होने लगा। प्रत्येक सखा अपनी-अपनी मैया से कहता है कि मैया तुम मुझको अमुक पकवान बना दो, मैं कन्हैया को खिलाऊंगा। मन में उसके यही बात है। कन्हैया भी अपनी मैया से कहता है कि मैया, मैं सखाओं को खिलाऊंगा। अपने-अपने खाने का संकल्प किसी में नहीं है। श्रीकृष्ण सोचते हैं–हम सखाओं को खिलायेंगे और सखा सोचते हैं

कि हम श्रीकृष्ण को खिलायेंगे। अपने खाने का संकल्प किसी सखा के मन में नहीं है। प्रेमी में अपना संकल्प रहता ही नहीं। प्रेमी का अपना कोई संकल्प नहीं होता; न उसे भोग चाहिए न मोक्ष। क्योंकि जब ममता, कामना और तादात्मय नहीं रहता तब बन्धन ही नहीं रहता, तो मोक्ष क्यों चाहिए ? तो सभी सखा-लोग भोजन की सामग्री ले-लेकर अपने-अपने घर से आये और वन-भोजन होने लगा। वह उसके मुख में देता है वह उसके मुख में देता है। सखा कहते हैं–'दादा, ले खा–हमारी मैया ने ये भेजा है।' वे कहते हैं–'नहीं भैया तू खा, मेरी मैया ने ये भेजा है।' अब यह पता ही नहीं चलता कि कौन किसको खिलाता है। अब यह दृश्य,जब बूढ़े बाबा ब्रह्मा ने देखा तो उन्हें भ्रम हो गया। यह भ्रम होना मानव जीवन का एक अंग ही रहा है–और यह भ्रम होगया कि यह कैसा ब्रह्म है कि ग्वालबालों के साथ झूठा दही भात खा रहा है। यह भ्रम होगया। इस प्रेम के साम्राज्य में प्रिय को एक चीज नहीं भाती–विस्मृति। वन-भोजन हो रहा है,सख्य-रस का बड़ा आनन्द हो रहा है, सभी मुग्ध हो रहे हैं–पता ही नहीं देह-गेह का। इधर गायें सोचती थीं कि हाय! कन्हैया मेरा बछड़ा होता तो कितना अच्छा होता! ब्रजवासी सोचते थे कि न जाने मैया यशोदा को कितना रस मिलता होगा! कहीं यह कन्हैया हमारा लाला होता तो कितना अच्छा होता!!

भगवान का जो चरित्र होता है, उसमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों का चित्रण होता है। प्रधानता माधुर्य की होती है, पर माधुर्य को सुरक्षित रखने के लिए ऐश्वर्य की अपेक्षा होती है। तो श्रीकृष्ण ने सोचा कि बड़ा अच्छा अवसर है। इधर सखाओं

के मन में वन-भोजन करते-करते बछड़ों की स्मृति हो आई कि 'अरे दादा! अपने बछड़े कहाँ हैं। बछड़े तो देखें।' श्रीकृष्ण ने कहा बड़ा अच्छा है, जो मुझे जरा सी देर भी भूलता है वह मुझसे दूर हो जाता है। यह विस्मृति जो उत्पन्न होती है, यह कैसे उत्पन्न होती है? अन्य सम्बन्ध से होती है। भगवान् के चरित्र में पूरा-पूरा दर्शन है। सखाओं का बछड़ों से भी सम्बन्ध था और श्रीकृष्ण से भी, तभी न बछड़ों की स्मृति हुई! अब जब बछड़ों की स्मृति हुई तो श्रीकृष्ण की विस्मृति होगई। अल्प-से-अल्प काल भी श्रीकृष्ण को विस्मृति सहन नहीं होती। तो उन्होंने कहा– ठहरो, तुम लोग भोजन करो, मैं अभी तुम्हारे बछड़ों को ढूंढ़ कर लाता हूं।' वे बछड़ा ढूंढ़ने के लिए चले। इधर बूढ़े बाबा ब्रह्मा ने उन सखाओं को बछड़ों सहित हरण कर लिया। यह कथा आती है न! अपहरण कर लिया तो एक बरस तक सब सोते ही रहे बछड़े और सखा, मोह निद्रा में। इधर श्रीकृष्ण ने कहा बड़ी अच्छी बात है, गायों के मन की बात पूरी हो, ग्वाल-बालों के मन की बात पूरी हो। श्रीकृष्ण स्वयं सखाओं के और बछड़ों के रूप में ज्यों-के-त्यों अभिव्यक्त हो गये। एक बरस तक गायें श्रीकृष्ण को अपने बछड़े के रूप में दूध पिलाती रहीं। सारे ब्रजवासियों के वात्सल्य-भाव-उपासना की पूर्ति हुई। भगवान का जो अवतार होता है वह भक्तों के मन की बात पूरी करने के लिए होता है। यह सख्य-रस का तथ्य है। इधर बूढ़े बाबा ब्रह्मा का अभिमान भगवान के ऐश्वर्य का दर्शन देखकर चूर-चूर हो गया। माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों साथ ही रहते हैं भगवान में।

एक बार–वात्सल्य भाव की बात है। कुछ ब्रज गोपियाँ मैया यशोदा के पास उलाहना देने आईं। उन्होंने कहा–'देखो

यशोदा ! हम तेरा गाँव छोड़ देंगी ।' बोली–क्यों गाँव छोड़ दोगी ? कि तेरा लाला कन्हैया हमें बहुत तंग करता है । बोली- क्या तंग करता है? कि दूध, दही, माखन खाय-सो-खाय वह तो फैलाता है । मोर, बन्दरों को लुटाता है, ग्वालबालों को खिलाता है । हम तेरे गाँव में नहीं रहेंगी । तेरा लाला बहुत ढीठ हो गया है । मैया यशोदा ने कहा–अरी भटु ! तुम इतनी परेशान क्यों होती हो ! लाला तो मेरा छोटा सा है न ! तुम दूध, दही छींके पर रख दिया करो, ऊंचे पर टांग दिया करो । गोपियों ने कहा–अरी यशोदा, जब हम छींके पर रख देती हैं तो तेरा लाला सखाओं के कंधों पर खड़ा होकर लकुट से मटकी तोड़ देता है । यशोदा ने कहा–अंधेरे में राम-कोठरी में रख दिया करो न ! गोपियां बोलीं––हम अंधेरे में तो रख दें । परन्तु यशोदा, तेरे लाला के मुख पर इतना प्रकाश है कि अंधेरा ही नहीं रहता । अब मैया बड़े संकट में । सोचने लगीं–शायद लाला भूखा रहता है और इसलिए भूखा रहता है कि मेरा माखन अच्छा नहीं है । और मेरा माखन इसलिए अच्छा नहीं है कि मुझमें प्रीति की कमी है । मैया को बड़ी वेदना हुई । अब वह बड़े धर्म-संकट में पड़ी । इधर कन्हैया का प्रेम, उधर निकटवर्ती सखियों का प्रेम । मैया कहने लगी–देखो, यदि लाला ने तुम्हारी एक मटकी तोड़ी हो तो एक-एक की नौ-नौ मटकी लेलो, पर गाँव छोड़ कर मत जाओ । जब मैया यशोदा की उदारताभरी वाणी सुनी तो सब गोपियाँ कहने लगीं–अरी यशोदा ! तू चिन्ता मत कर, जैसो तेरो लाला वैसो ही हमारो लाला । बहिन तू बिल्कुल चिन्ता न कर । दूध, दही, माखन, गैया, बछड़ा सब कुछ कन्हैया का है । देखिए, ब्रज-वासियों में ममता

की गंध भी नहीं है। इधर तो गोपियों की समस्या का निपटारा हुआ और उधर मैया स्वयं सोचने लगी कि लाला अगर भूखा नहीं रहता तो क्यों इनके घर जाता। भूखा जरूर रहता है। सचमुच कन्हैया प्रेम का बड़ा भूखा है। और यह ऐसी भूख नहीं है जो कभी पूरी हो जाय। क्यों? जब प्रेम की कभी पूर्ति नहीं होती तो प्रेमरस के भोगी की कैसे पूर्ति हो सकती है। तो अब मैया सोचने लगी कि मेरे माखन में कोई दोष है, कोई कमी है। इसलिए लाला भूखा रहता है। तो अपनी सहचरी, सखियों से कहने लगी कि सुनो! कल मैं पूजा करूंगी, अपने हाथ से गैया दुहूंगी। अपने हाथ से दूध गरम करूँगी। अपने ही हाथ से दही जमाऊंगी। अपने ही हाथ से माखन निकालूंगी। मैया यशोदा ने देखा कि सबसे अच्छी गाय कौन-सी है। कौन-सी गाय ऐसी है जो कन्हैया को बहुत प्यारी लगती है। तो अपने ही हाथ से दूध दुहा, गरम किया, दही जमाया और माखन निकालने लगीं।

देखिए, प्रेमी के हृदय में जब प्रीति की वृद्धि होती है तो उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में प्रीति आ जाती है। प्रीति कोई ऐसी चीज नहीं है कि आप जब सब काम-धन्धा छोड़ देंगे तब प्रेम करेंगे। ऐसी बात नहीं है। अपने प्रिय के नाते की हुई प्रत्येक प्रवृत्ति प्रीति ही है। जब कन्हैया के लिए माखन निकालना प्रिय है तो गाय दुहना भी प्रिय है। दूध गरम करना भी प्रिय है। दही जमाना-दही मथना आदि सब प्रेम स्वरूप ही हैं। तो जैसे-जैसे यशोदा कन्हैया का काम करती जाती हैं वैसे-वैसे हृदय में प्रीति भी बढ़ती जाती है साथ-

साथ। आपने कभी जीवन में अनुभव किया है अथवा नहीं। हम अपने किसी प्रिय के लिए जब कोई काम करते हैं तब जैसे-जैसे काम पूरा होता जाता है या काम में प्रवृत्ति होती जाती है, वैसे-वैसे साथ ही साथ प्रीति भी बढ़ती जाती है। ऐसा नहीं है कि कार्य करने से प्रीति में क्षति आती हो। कार्य करने से प्रीति में और वृद्धि होती है। तो अब मैया यशोदा के हृदय में इतनी प्रीति बढ़ी कि कन्हैया की नींद खुल गई। सो नहीं सका और वह आकर मैया के पास खड़ा हो गया। बोला–'मैया मोय माखन दे दो।' अब मैया को बिल्कुल विश्वास हो गया कि हाय, मेरा लाला इतना भूखा है कि उसे नींद तक नहीं आई। मैया अत्यन्त व्याकुल हो गई, अधीर हो गई। इधर मक्खन तैयार नहीं है, दे कहाँ से। तो कन्हैया ने, जैसा कि बच्चों का स्वभाव होता है, मथानी की रस्सी पकड़ ली। अब मथानी भी बन्द हो गई। कन्हैया बोला–-मैया, मोय माखन देदो। कन्हैया आखिर छोटा बच्चा है। जब माधुर्य का प्रदर्शन प्रभु की लीला में होता है तो ऐश्वर्य नहीं दिखाते। तो मैया ने बलपूर्वक दही मथना आरम्भ किया तो दही के छींटे उड़-उड़ कर कन्हैया के मुख पर पड़ते हुए बड़े ही सुन्दर मालूम होते हैं। अब मैया इधर तो कन्हैया के रूप पर मोहित हुई जा रही हैं, उधर कन्हैया की भूख से व्याकुल हैं और कन्हैया ने ऐसे संकट में डाल दिया है कि माखन निकाल ही नहीं पाती। जब देखा कन्हैया ने कि माखन है ही नहीं तो अत्यन्त आकुल होकर कहा कि तो मैया तू मोय अपनो दूध ही पिला दे।' स्तनकाम का प्रतीक है। उस ब्रह्म में स्तन-पान की कामना पैदा होगई। यह प्रेम की महिमा है कि ब्रह्म में जीव-भाव की अभिव्यक्ति होती है

प्रेम से। जैसे ज्ञान जीव को ब्रह्म-भाव प्रदान करता है तो प्रेम ब्रह्म में जीव-भाव की अभिव्यक्ति करता है। लेकिन जीव होता नहीं ब्रह्म कभी। यह मत सोच लेना कभी कि ब्रह्म हो जाता है।

तो इस प्रकार अनेक चरित्र दिन-रात होते रहते हैं ब्रज में। किन्तु उन सभी चरित्रों में आपको दो या तीन बातें ही मिलेंगी—मुख्य रूप से। कन्हैया अपना है, सबकुछ कन्हैया का है और हमें (ब्रजवासियों को) कुछ नहीं चाहिए। कन्हैया का प्यार ही सबका जीवन है। इस प्रकार अनेक लीलायें दिन-रात होती रहती हैं। जो बात कन्हैया के मन में आती है वही बात गोपियां कहती हैं, और जो बात गोपियों के मन में आती हैं वही बात कन्हैया करते हैं। इस प्रकार इन दोनों के बीच नित्य-विहार चलता है प्रेम का। यहां एक बात विचार करने की है कि प्रकट रूप से कन्हैया किसी गोपी का पति नहीं है और अन्तरदृष्टि से सभी का पति है। क्यों?—परकीया भाव में अपने पर अधिकार होता है, अपना अधिकार कुछ नहीं होता है। ये मधुर-भाव के दो विभाग हैं—एक स्वकीया भाव और दूसरा परकीया भाव। यदि प्रकट रूप से विवाहादि हो जाय तो स्वकीया भाव और विवाह न हो और पति-भाव हो जाय—तो यह परकीया भाव। तो परकीया भाव में अपने पर सब अधिकार हैं, पर अपना कोई अधिकार नहीं। यहां तक कि कोई गोपी प्रकट रूप में मिल भी नहीं सकती। आपने देखा होगा कि अनेकों ऐसे चरित्र होते रहते हैं ब्रज में—जिनमें कभी तो श्रीकृष्ण गोदनहारी बन कर आते

हैं। कभी ये देवांगना बन कर आते हैं। कभी कुछ बन कर आते हैं। कभी वैद्य बन कर आते हैं। कभी मालिन बन कर आते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के अभिनय करते हैं, बहाने करते हैं कि किसी प्रकार श्री किशोरी जी से भेंट हो जाती।

तो एक बार वे देवांगना बन कर किशोरी जी से मिलने गये और जाकर कहने लगे कि हमने सुना है कि तुम उस नन्द-नन्दन को, जो बड़ा धूर्त है, प्रेम करती हो। वह तो बिल्कुल प्रेम के लायक नहीं है। किशोरी जी ने कहा कि मैं तो उनसे प्रेम नहीं करती हूँ। प्रेम करना तो वे ही जानते हैं। मुझमें प्रेम कहाँ है। देखिए, प्रेमियों को अपने में कोई विशेषता नहीं दिखाई देती। कभी भी किन्ही विशेष गुणों का भास नहीं होता। तो किशोरी जी ने कहा कि मुझमें तो प्रेम की गन्ध भी नहीं है। प्रेम करना तो वे ही जानते हैं। श्यामसुन्दर बोले कि यह बात हम नहीं मानते। हम यह तो मानने को राजी हैं कि आप उनको प्रेम करती हैं। पर यह बात हम बिल्कुल मानने को राजी नहीं कि वे आपको प्रेम करते हैं। क्योंकि वे प्रेम करते होते तो उस दिन तुमको अकेला छोड़ कर क्यों चले जाते? तो किशोरी जी ने कहा कि–ये तो हमारे प्यारे ने ऐसा सोचा कि अगर मैं सब गोपियों से अलग होगया और इनसे अलग नहीं हुआ तो गोपियों के मन में मेरे प्रति कहीं, बुरी भावना न बन जाय। इसलिए मेरे प्यारे ने मेरा त्याग किया। बोले–तो जब तुम जानती हो कि तुम्हारा त्याग किया तो तुम उस दिन बेचैन क्यों थीं? बोलीं–ये तो एक सम्मोहिनी शक्ति है

श्यामसुन्दर में। मेरी सखी देवांगिने, मैं तुझे क्या बताऊं! इसमें तो मेरा बस नहीं रहता। देवांगना ने कहा--कि हमने तो सुना है कि तुम देखने को दो हो, पर तुम दोनों में एक ही प्राण है, एक ही मन है। श्री किशोरी जी ने कहा--है देवांगिने, अगर इस बात को देखना चाहती हो तो तू मेरी सखी बन कर रह। देवांगना ने कहा, किशोरी जी सखी क्या-आप दासी बनाकर रखो, पर यह बात तो आपको प्रत्यक्ष रूप से दिखानी पड़ेगी कि आप दो होकर भी एक कैसे हो। किशोरी जी ने कहा-हे ललिते! यह देवांगना बातें तो बड़ी पंडितों की-सी करती है, पर है निपट गंवारी। यह कुछ जानती ही नहीं है। अरे हम तो एक हैं ही। दो मालूम होते हैं, पर हैं एक ही। देवांगना ने कहा कि यदि आप एक हैं तो फिर क्यों नहीं अपने प्यारे के दर्शन कराती हैं? यदि अपने प्यारे के दर्शन कराओ तो हम जानें कि आप एक हैं। अब जैसे ही श्री किशोरी जी के हृदय में यह संकल्प उत्पन्न हुआ, तत्काल ही वह जो बना हुआ वेश था श्यामसुन्दर का, वह रह नहीं सका। वे प्रगट होगये। किशोरी जी ने कहा–हे ललिते, बता वह देवांगना कहां है। बुला उसको। ललिता ने कहा कि–हे किशोरी जी! उस देवांगना में से ही ये देवा निकले हैं (हास्य की ध्वनि)। तो कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेम में नित्य-मिलन और नित्य-वियोग है। वियोग भी नित्य है, मिलन भी नित्य है। इस प्रकार के अनेक चरित्र दिन-रात ब्रज में होते हैं। गोपियों के मन की बात श्रीकृष्ण करते हैं और श्रीकृष्ण के मन की बात गोपियां करती रहती हैं।

एक बार की बात है–श्यामसुन्दर और श्री राधारानी

कहीं खेल रहे थे । बालक थे न छोटे-छोटे ! खेल रहे थे । खेलते-खेलते श्रीकृष्ण ने किशोरी जी की अंगूठी चुरा ली और चले गये । यह चरित्र है, आपने सुना होगा । तो सखियों ने देखा कि श्यामसुन्दर आये थे, कही कुछ ले न गये हों । तो उन्होंने किशोरी जी से कहा कि–हे किशोरी जी ! आपकी कोई चीज तो नहीं चुरा लेगये श्यामसुन्दर ? किशोरी जी ने कहा कि उनको क्या कमी है, वे भला क्यों चुराने लगे । सखियों ने कहा–नहीं-नहीं ! दिखाओं हमें–और उनका (किशोरी का) सब शृंगार देखने लगीं । बोलीं–दिखाओ, मुँदरिया (अंगूठी) कहाँ है ? बोलीं–मैया ने नांय पहिनाई होगी । सखियां बोलीं–नांय-नांय ये बात नांय । श्यामसुन्दर बड़े चोर हैं–वे ही चुरा ले गये होंगे । मैया ने नहीं पहनायी हो, यह बात नहीं हो सकती । किशोरी जी बोलीं–अरे सखी, उनसे मत कहो, मैया भूल गई होगी पहिनावो–कोई बात नांय । बोलीं–नहीं किशोरी जी, देखो यह हो ही नहीं सकता । श्यामसुन्दर बड़े चोर हैं, वे ही चुरा लेगये होंगे । तो गोपियाँ श्यामसुन्दर के पास गईं । कहने लगीं, लाला ! दे दो । बोले-क्या ? अरे जो लाये हो सो दे दो । कहा–हम तो कुछ नहीं लाये । गोपियाँ–हम यह बात नहीं मानेंगी कि कुछ नहीं लाये । तो काहैकू पूछ रही हो कि दे दो ? अच्छा–अपनी नंगाझोली दो । नंगाझोली में मुँदरिया निकल आई । इसमें दार्शनिक रहस्य क्या है कि यह जो मुंदरी है--यह मन का प्रतीक है । तो वह किशोरी जी के मन को चुरा लेगये । अब गोपियों ने कहा देखो किशोरी जी, ये चोर हैं कि नहीं ? तुम्हारी मुंदरिया चुरा कर लेगये थे ।

अब इधर इनके मन में क्या बात आई कि उन्होंने

कहा कि किशोरी जी ! चलो श्यामसुन्दर की चोरी करेंगे। तो कहा–कि कैसे चोरी करोगी ? चलो देखती हैं। जब वे सो रहे होंगे तो उनका सब उठा लायेंगी सब सामान । अब गोपियों के मन में यह बात आती है। श्यामसुन्दर कदमवृक्ष के नीचे सो जाते हैं। अब राधारानी अपनी सखियों के सहित जब गईं तो देखा कि श्यामसुन्दर गहरी नींद में सो रहे हैं। गोपियों ने कहा कि किशोरीजी आप उनका सब शृंगार चुरा लो। तो एकदम किशोरी जी आकुल हुईं–देखो सखी कितनें अच्छे लगते हैं, मत चुराओ। अरे प्यारी जी ! उनको क्या कमी है। उनकी मैया और देदेंगी, आप चुरा लो। उनका सारा शृंगार चुरा लिया और चली आईं। अब श्यामसुन्दर की नींद खुली, देखा तो वंशी नहीं है, अमुक चीज नहीं है, अमुक नहीं है। सब चीजों का नाम लेते जाते और कहते जाते कि यह भी नहीं है–यह भी नहीं हैं। सोचने लगे, मुझ चोर के घर में कौन चोर आयेगा, जो सब लेगया। कोई नहीं ले सकता सिवाय गोपियों के–और कोई नहीं चुरा सकता। सारा श्रंगार चुराया यानी स्वरूप की प्राप्ति। जब वह मन चुरा लेते हैं तब अपना स्वरूप प्रदान करते हैं। इसमें दार्शनिक रहस्य हैं। श्यामसुन्दर आये। हे सखी, हमारी लकुटिया दे दो, हमारी वंशी दे दो, हमारा ये दे दो। बोलीं-लाला वा दिन तुम मुँदरिया चुरा लेगये, अब काये को आये हो-जाओ। जाओ तुम्हारो कछू काम नाँय। बोल-चाल में कहते हैं न कि हमें कुछ नहीं चाहिए। बोले ना सखी, देदो। तो बोलीं–जाओ यहाँ तुम्हारा कछू नांय। तो श्यामसुन्दर ने कहा–अच्छा ! अगर हम नन्द के लाला हैं तो तुम से जरूर लेलेंगे। अब यहाँ एक बड़ा रहस्य है। श्यामसुन्दर ने एक विरहणी सखी का वेश बनाया। अब अत्यन्त व्याकुल हैं।

और बड़ा विलाप किया कि-हे श्यामसुन्दर ! अब इस विरहणी सखी की दशा देखो। किसी गोपी ने जब देखा तो बड़ी आकुल हो गयी और कहने लगी–अरे ! तू क्यों बावरी होगयी है, क्यों उसके पीछे पड़ी है। यानी विरोध किया कृष्ण-प्रेम का। तो श्याम-विरहणी सखी कहती है कि मेरा तो कोई अपराध नहीं है। मैं तो जल भरने गयी थी मेरे पाँव में कांटा लग गया। न जाने सखी कहाँ से वे नन्द के लाला आये, मेरे पैर के कांटे को निकाल गये, पर मेरे मन में कांटा चुभा गये। तो श्याम-विरहणी सखी को अत्यन्त व्याकुल देखकर ललिता जी ने कहा कि हे किशोरी जी, आपके पास तो प्यारे का सारा श्रृंगार है। तो आप उसको धारण करके इसे दर्शन दें, ताकि उसका हृदय शान्त हो जाय। किशोरी जी ने वैसा ही किया। उसे दर्शन दिया। श्यामविरहणी का हृदय शान्त हुआ। कहने लगीं–"हे प्यारीजी यह लकुट मेरी है। यह वंशी मेरी है। यह मुकुट मेरा है।" तात्पर्य क्या है ? जिसको प्राप्त करना होता है उसके स्वभाव का अनुसरण किये बिना आप प्राप्त नहीं कर सकते उसे। यहाँ तक तो मैंने उसके दर्शन का वर्णन किया।

आप जानते हैं। प्रभु में ऐश्वर्य है, सौन्दर्य है, माधुर्य है। तो आपको भी उसी को प्राप्त करना होगा। निर्ममता से उदित सौन्दर्य, निष्कामता से प्रकट ऐश्वर्य और आत्मीयता से जागृत माधुर्य प्राप्त करने पर ही पूर्ण प्राप्ति होगी।

* *

७

(ब)

१. प्रेम के पथ में बड़ा रहस्य है, प्यारे का मन प्यारी के पास और प्यारी का मन प्यारे के पास रहता हैं।

२. प्रेम में नित्य मिलन है और नित्य योग है।

३. प्रिय के मन की बात पूरी करना ही तो प्रेम है, गोपियों के मन की बात श्री कृष्ण, और श्री कृष्ण के मन की बात गोपियाँ करती रहती हैं।

४. प्रीति और प्रियतम में भेद नहीं है, प्रीति में ही प्रियतम का और प्रियतम में ही प्रीत का नित्य वास है।

—o—

प्रवचन :

इस प्रकार दिन-रात ब्रज में नित-नव-रस की वर्षा होती रहती है। एक बार मेरे मन में यह बात आयी कि श्रीकृष्ण के प्रेम की प्राप्ति का उपाय क्या है ? तो मुझे एक ऐसा चरित्र सुनने को मिला, बहुत ही ऐसी दशा में कि अकस्मात एक आदमी ने कहा कि तुम अमुक जगह चले जाओ। मैंने सोचा, वहाँ का रास्ता जानता नहीं, साथ में भी कोई है नहीं। किन्तु दैवयोग से पहुँच गया। वहाँ एक बड़ा ही सुन्दर श्रीकृष्ण-चरित्र देखा। श्री किशोरी जी अपनी सखियों के साथ और श्यामसुन्दर अपने सखाओं के साथ वन-विहार कर रहे हैं। श्री किशोरी जी कहती हैं–हे प्यारे ! यह वन कितना सुन्दर है। श्यामसुन्दर कहते हैं-हे श्री किशोरी जी ! यह आप ही से सुन्दर है। बोलीं नहीं-नहीं। हे प्यारे ! इसमें आपही का सौन्दर्य है" अब आप देखिये कि दृष्टि में प्रभु हैं, दोनों ही ऐसी बातें करते हैं। ऐसा वन-विहार करते-करते किशोरी जी के मन में एक बात आयी कि हे प्यारे ! आओ हम खेल खेलें। क्या खेलोगी ? बोलीं हम छिपेंगे और तुम ढूँढ़ना। किशोरी जी छिप गईं और श्यामसुन्दर ढूंढ़ने लगे। जब नहीं ढूंढ पाये तो अत्यन्त व्याकुल होकर,अधीर होकर बैठ गये। "हाय ललिते! प्यारी न जाने कहाँ चली गईं। अब मुझको प्यारी के बिना एक पल भी चैन नहीं है।" बड़े व्याकुल। ललिता जी ने कहा, 'हे प्यारे ! आपकी प्यारी को रास बहुत प्रिय है। आओ हम तुम मिल कर रास करेंगे। शायद प्यारी आ जांय। दोनों ने मिल कर रास किया। अब प्रयत्न चल रहा है। फिर भी प्यारी जू नहीं आईं। अब तो श्यामसुन्दर

बहुत व्याकुल हो गये। कहने लगे–"हे ललिते! अब तो मुझ से प्यारी जू का वियोग किसी प्रकार भी सहन नहीं होता।" ललिता जी विवेक-शक्ति हैं। उन्होंने कहा–"हे प्यारे! आप अधीर न हों, मैं अभी आपकी प्यारी जू को लाती हूँ।"

देखिये, इस प्रेम के पथ में बड़ा रहस्य है। प्यारी के पास प्यारे का मन और प्यारे के पास प्यारी का मन! और वह जो सखी है न, उसके पास दोनों का मन। वह दोनों का मन लिए रहती है। इसीलिए जो ये प्रेमी होते हैं न, प्रिया-प्रीतम दोनों को लाड़ लड़ाते हैं। ललिता जी ने कहा कि हे प्यारे! आप अधीर न हों, मैं अभी आपकी प्यारी को लाती हूँ। और जाकर एक स्थान पर मूक होकर बैठ गयीं। मूक-सत्संग करने लगीं। देखती हैं कि किशोरी जी वहाँ मौजूद हैं। अप्रयत्न हो गयीं, अहंकृति नाश हो गयी, प्रयत्न नाश हो गया। देहाभिमान गल गया; अब दूरी कैसी! अब जब प्यारी जू प्रकट हो गईं तो ललिता जी ने कहा–'हे प्यारी जी! आप शीघ्र ही पधारो।' किशोरी जी बोलीं–'क्या सखी, क्या कहा?" ललिता जी ने कहा–"आपके प्यारे आपके वियोग, में बड़े ही अधीर हैं।"बोलीं–"हे ललिते! मेरे प्यारे मेरे वियोग में अधीर हैं। हाय, हाय ललिते! मैं तो वैसे ही प्यारे के वियोग में बेचैन थी और तू कहती है कि मेरे प्यारे मेरे वियोग में अधीर हैं। अब मुझ में तो बिल्कुल सामर्थ्य नहीं है। तू जा और प्यारे से कह कि वे ही मुझे दर्शन दें।" अब ललिता जी श्यामसुन्दर के पास आयीं, कहने लगीं-"हे प्यारे! मुझे आपकी प्यारी मिल गयीं, मैंने कहा आपके प्यारे आपके वियोग में बड़े दु:खी हैं, आप चलो। तो आपकी प्यारी ने कहा कि एक तो मैं वैसे ही प्यारे के वियोग

मैं दुःखी हूँ। हाय! मेरे प्यारे मेरे वियोग में दुःखी हैं। अब मुझ में तो बिल्कुल सामर्थ्य नहीं है। तो हे प्यारे! आप ही चल कर उन्हें दर्शन दें।" श्यामसुन्दर कहने लगे-हे ललिते! तुम तो जानती ही हो कि मैं प्यारी के वियोग में दुःखी हूँ। हाय! मेरी प्यारी और मेरे वियोग में अधीर हैं। अब मुझमें तो बिल्कुल सामर्थ्य नही है। तुम जाकर उनसे कहो कि वे ही दर्शन दें। ललिता जी इधर से उधर आयीं, वहां देखती हैं कि प्यारी वहाँ नहीं हैं। उधर देखती हैं कि प्यारे नहीं हैं। यह देख ललिता जी अप्रयत्न होकर मूर्छित होगयीं। अब यह कुछ पता नहीं चलता कि प्यारी से प्यारे मिले कि प्यारे से प्यारी मिलीं। दोनों का मिलन होगया। अब दोनों ने जब ललिता जी को देखा मूर्छित दशा में, तो श्यामसुन्दर ने कहा-हे किशोरी जी! ललिता जी कितनी दुःखी हैं। आप शीघ्र ही कृपा करो। उन्होंने कहा-हे प्यारे! आप ही कृपा करो। किन्तु ललिता जी प्रकट होगयीं और कृपा किसने की, वही जानें। खेल समाप्त होगया। श्यामसुन्दर ने कहा-हे प्यारी, आप कहाँ छिप गई थीं। मैं तो आपको बिल्कुल ढूंढ़ नहीं पाया। बोलीं 'हे प्यारे! मैं तो आपमें ही छिपी थी।' प्रीति और प्रीतम में भेद नहीं है, दूरी नहीं है। प्रीति में ही प्रीतम का निवास है, प्रियतम में ही प्रीति विद्यमान है। इस प्रकार नित-नव रस की लीला ब्रज में होती रहती है।

आप जानते हैं, प्रीति की वृद्धि वियोग से होती है। जब श्यामसुन्दर ने देखा कि मिलन में जो प्रीति है वह तो है ही, पर उससे और बढ़नी चाहिए। क्योंकि प्रीति की कभी-पूर्ति तो होती नहीं।

तो श्यामसुन्दर कहने लगे-"मैया! हम तो मथुरा

जायेंगे। हमारे काका–अकरूर जी आये हैं न, हमारे मामा ने यज्ञ किया है, हम यज्ञ देखने के लिए मथुरा जायेंगे।" अब मैया यशोदा ने जब सुना कि कन्हैया मथुरा जायगा तो अत्यन्त अधीर हो गयीं कि हाय! हाय! क्या ब्रज में कोई ऐसा नहीं है जो जाते हुए कन्हैया को रोक सके। प्रेमियों को अपने गुण का भास होता ही नहीं। कन्हैया कहने लगा–"अरी मैया! हमने तुम्हारा बहुत दही खाया, दूध खाया, माखन खाया, हम तो अब जायेंगे। अब बाबा! अपनी गैयां सम्हाल लो। हम तो जायेंगे।" नन्द ने जब यह सुना तो अधीर होकर कहने लगे– "हाय लाला तू जाएगो। ये सारी गैयाँ तो तेरी हैं। हमारी कहाँ हैं लाला!" यह समाचार जब सखाओं ने सुना, गोपियों ने सुना, तो जिसने भी सुना, एक दम बेचैन, अधीर होगया। गोपियां तो रथ के सामने आकर लेट गयीं। पहियों के साथ लिपट गयीं। श्यामसुन्दर ने कहा–अरे सखी! हम आयेंगे–परसों आयेंगे, परसों। इसी नाम से ब्रज में परसों (पलसों) नामक एक गाँव है! 'परसों की पिया जो आवन कहीं, कब आयेगी बेरिन परसों।' यानी ब्रज में कोई परसों शब्द नहीं कहता। पल्ला-दिन कहते हैं। उनको परसों शब्द कहने में डर लगता है। तो गोपियाँ जहाँ की तहाँ खड़ी रह गयीं।

श्यामसुन्दर मथुरा चले गये। बड़े आदमी होगये, मथुराधीश बन गये। नन्दराय जी जब लौटे कन्हैया को पहुँचाकर और मैया यशोदा ने देखा कि नन्दराय जी आ गये है और लाला नहीं हैं, तो यशोदा जी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि लाला के बिना यह प्राण सहित कैसे आ गये। नन्द जी कहने लगे–– "यशोदे, तुम ठीक सोचती हो। रामावतार में जब हमारे लाला

बन गये थे, तब महाराजा दशरथ ने प्राणों का परित्याग कर दिया था। मुझे भी लाला के वियोग में प्राणों का त्याग करना चाहिए था। परन्तु तुम नहीं जानती यशोदा, जब हमारे लाला वन से लौटे, तब उन्होंने महाराजा दशरथ के न रहने का दुःख अनुभव किया था। ऐसे ही जब कभी लाला ब्रज में आये और उसे मेरे न रहने का दुःख हो तो वह मुझे असह्य होगा। ये अभागे प्राण केवल इसीलिए नहीं निकले कि जब लाला ब्रज में आये तो उसे मेरे वियोग का दुःख न हो। हमें भले ही उनके वियोग का दुःख हो, पर उन्हें हमारे वियोग का दुःख न हो।" प्रेमियों के मन में यही बात रहती है। जब किसी बुद्धिमान मानव (उद्धव जी) ने गोपियों से कहा कि अरी गोपियों! तुम बड़ी बावरी हो। दिन रात प्यारे श्यामसुन्दर के लिए अधीर रहती हो, बेचैन रहती हो, व्याकुल रहती हो। अरी बावरी, मथुरा कुछ दूर है-चली क्यों नहीं जाती? गोपियों ने कहा कि भैया, तुम बिल्कुल ठीक कहते हो। हम भली-भांति जानती हैं कि मथुरा बहुत दूर नहीं है और यह बात भी ठीक ही है कि प्यारे श्यामसुन्दर आ जायं तो बड़ा ही आनन्द हो। परन्तु भैया, एक बात तो बताओ। यदि उनके मन में अलग रहने की है तो हम कैसे जायें! गोपियां बेमन की हो गयीं। उनके मन में अलग रहने की है, इसलिए हम नहीं जातीं। क्यों? प्रिय के मन की बात पूरा करना ही तो प्रेम है। अपने मन की बात पूरी करना प्रेम थोड़े ही है।

उधर क्या दशा है! अरे भैया उद्धव! अत्यन्त व्याकुल हैं श्यामसुन्दर। तो कैसे व्याकुल हैं महाराज, क्या बात है? बड़े ब्रह्मनिष्ठ सखा हैं उद्धवजी श्रीकृष्ण के। तो कृष्ण से पूछा उद्धव जी ने-कि महाराज कैसी बेचैनी है, कैसी उदासी-

नता है। तो जैसे–जैसे उद्धव जी पूछते जाते हैं वैसे–वैसे श्यामसुन्दर और व्याकुल होते जाते हैं। कहने लगे–"भैया उद्धव ! मुझे ब्रज की बड़ी याद आती है।" क्या महाराज ! यहाँ कौन-सा कष्ट है ? कौन-सी सेवा नहीं होती ? बोले, भैया ! जब से मैंने ब्रज छोड़ा है किसी ने मुझे कनुआ कहके नहीं बुलाया, किसी ने गुंजों की माला नहीं पहिनाई, किसी ने दूध की छाछ नहीं दी। भैया उद्धव, मुझे ब्रज की बड़ी याद आती है। तू जा और मैया से कहना कि मैया-तुम ऐसी निष्ठुर क्यों हो गई हो। और उद्धव जी एक बात और है,गोपियाँ मेरे वियोग में बड़ी दुःखी है तो तुम उन्हें तत्व–साक्षात्कार करा आओ, ज्ञान का उपदेश करा आओ, योग की दीक्षा दे जाओ। उद्धव जी ने कहा–जैसी आज्ञा हो महाराज। आप जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही करूँगा। मैं अभी जाता हूँ। बोले–भैया ! ऐसे मत जाना। तुम मेरे ही वस्त्र पहन पर जाना, मेरे ही रथ को ले जाना। नहीं तो तेरी ओर कोई देखेगा भी नहीं। चलते समय कुब्जा ने कहा-"हे उद्धव जी ! राधा जी से प्रार्थना कर देना कि मैं तो किसी लायक थी नहीं, इन्होंने स्वयं सुधारा है। अपने लायक बनाया है। जैसी इन्होंने कृपा की है; वे क्यों खीजती हैं। वे भी मुझ पर कृपा करें।" आप कहेंगे बात तो ठीक है। इस सम्बन्ध में बड़ी रहस्यमयी बात है। एक बार श्री किशोरी जी से उनकी सखी ने पूछा कि हे प्यारी जी, जब प्यारे चन्द्रावली के यहाँ जाते हैं तब आप क्यों बिगड़ती हैं ? कहा–मैं इसलिए नहीं बिगड़ती कि वे चन्द्रावली के क्यों जाते हैं। तू सच बता वहां प्यारे को रस मिलेगा क्या ?

उद्धव जी ब्रज में आये, यहाँ की दशा क्या है ? अगर

गोपियों की दृष्टि कहीं वन पर पड़ती है तो एकदम व्याकुल होती हैं "मधुवन तुम व्यर्थ ही हरे हो, वृक्ष तुम व्यर्थ ही सूखे हो, यमुना तुम वृथा ही बहती हो। मुकुन्द बिना कुंज किस काम के।" सारा ब्रज उन्हें नीरस लगता है। प्रिय वियोग में कहीं रस नहीं है। सब ओर से चित्त हट गया है और प्रिय के वियोग में व्याकुल हैं। अगर उनके शरीर को शीतल वायु लग जाती हैं तो चौंकती हैं, "अरे वायु! क्या तू श्री श्यामसुन्दर से स्पर्श करके आयी है जो शीतल है!" कोई पथिक उधर मथुरा को जाता हुआ दिखता है तो कहती हैं कि कन्हैया से यह कहना, कन्हैया से यह कहना। आता हुआ दिखता है तो कहती हैं-बता, कन्हैया कैसा है? उद्धव जी आये तो लोगों ने रास्ता छोड़ दिया। कौन बात करे, किसे फुर्सत है। लेकिन ब्रज-वासियों ने देखा कि वही रथ आ रहा है जिसमें दादा गये थे। तो क्या दादा आ गये! सखाओं की दृष्टि पड़ी। अब देखिए यहां एक बड़ा रहस्य है। जैसे-जैसे भाव ऊंचा होता जाता है वैसे-वैसे……। ये नहीं है कि दास्य भाव स्वयं सख्य भाव में बदलता है। सख्य स्वयं वात्सल्य में, वात्सल्य स्वयं मधुर भाव में। ये प्रीति की श्रेणियां हैं। इनमें कोई ऊंची नीची बात नहीं है। सख्य-रस से कोई ऊंचा रस नहीं। तो पहले-पहले सखाओं की दृष्टि गई तो बड़े हर्षित होकर बोले—अरे! रथ आ गया। मालूम होता है हमारे दादा आ गये। हमारे दादा आ गये। गये नन्द बाबा के पास। बोले—बाबा! बाबा! आज वही रथ आ रहा है जिसमें दादा गये थे। बाबा जैसे जाग पड़े हों। देखने लगे चौंक कर। जैसे-जैसे रथ करीब आता जाता है वैसे-वैसे प्रसन्नता बढ़ती जाती है। किन्तु जब रथ बिल्कुल नजदीक आया तो देखा ये उद्धव जी है। तो जितनी गहरी आशा

होती है निराशा होने पर उतनी गहरी व्याकुलता भी होती है। सब ज्यों-के-त्यों ठगे से रह गये। अरे भैया उद्धव! खूब आये। बड़े आनन्द की बात है। कहो भैया! हमारे लाला अच्छे तो हैं। कभी उन्हें हमारी भी याद आती है क्या? कभी वह ब्रज में आयेगा क्या? उद्धव जी ने कहा–आप निराश न हों, आपके सखा जरूर ब्रज में आयेंगे! निस्सन्देह रहें, आप अधीर न हों। उद्धव जी बोले–हमें नन्द जी के पास ले चलो। सखा लोग नन्द जी के पास लेकर आये। नन्द जी ने देखा-दौड़े आये। कहा–भैया उद्धव, हमारो लाला अच्छा तो है न! अरे भैया, लाला तो हमें बिल्कुल भूल गयो। उद्धव ने कहा-"नहीं बाबा! आपको लाला बहुत अच्छो है और बाबा जरूर आयगो। उसने आपको जुहार कहा है और कहा है कि मैया से कह देना कि मेरे खिलोना कोई गोपी चुरा न ले जाय।" बात क्या है? सारा दिन अखण्ड प्रतीक्षा में कि कन्हैया आता होगा। मैया दूध के झाग रखती है. दही जमाती है, माखन रखती है। सारा दिन प्रतीक्षा करती है, सारी रात प्रतीक्षा करती हैं। पता ही नहीं चलता कि कब दिन बीत गया और कब रात हुई। क्यों? क्योंकि उनका मन कन्हैया के पास है। जब उद्धव जी गोपियों के सामने गये और उन्होंने कहा कि श्रीकृष्ण ने आपको एक पत्र भेजा है तो गोपियों ने कहा–हम कैसे पढ़ें! आँसुओं से गल जायगा। हृदय से लगायें तो जल जायगा। तुम्हीं बताओ इस पत्र में क्या लिखा है। उद्धव जी ने कहा–तुम नहीं जानती वे पूर्ण, परात्पर, सच्चिदानन्दघन हैं। निर्विशेष ब्रह्म हैं। सर्वत्र हैं, सर्वदा हैं, सब में हैं। तुम इतनी क्यों व्याकुल रहती हो? गोपियों ने कहा–"अरे उद्धव! तुम बावरे हुए हो। तुम योग करने की बात कहते हो। यदि हमारे पास हमारा मन होता

तो हम योग करतीं। यदि हमारे मन में किसी और के लिए ठौर होता तो तत्व विचार करतीं।" अखण्ड प्रतीक्षा, बे-मन का जीवन। मन में किसी और के लिए ठौर ही नहीं।

उद्धव जी सिखाने आये थे, सीख कर गये। तत्ववित् होकर आये थे, प्रेमवित् होकर गये। श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए आये थे, बुराई करते हुए गये—हे कृष्ण ! तुम बड़े निठुर हो, तुम बड़े धूर्त हो, तुम्हें शीघ्र-से-शीघ्र ब्रज में जाना चाहिए। और यहाँ तक कहने लगे कि हे विधाता ! यदि मेरा कहीं जन्म हो तो इसी ब्रज में हो और यहां कि लता-पत्रादिक मुझे बना देना, जो गोपियों के पद-पंकज की रज मेरे ऊपर पड़े।

इसी प्रकार वियोग में मिलन, मिलन में वियोग, नित्य ही प्रेमियों के जीवन में रहता है। आपने सुना ही होगा, परकीया भाव क्या है ? उसका ठीक चित्रण कब होता है ? एक बार नारद जी को एक विनोद सूझा और उन्होंने श्री रुक्मिणी जी से कहा कि हे रुक्मिणी जी तुम श्री श्यामसुन्दर को इतना प्रेम करती हो और वे जब देखो तब राधे–राधे ही रटते रहते हैं। रुक्मिणी जी ने कहा–बात तो ठीक है, नारद बाबा ! एक बार हम प्राणनाथ की चरणसेवा कर रहीं थीं। प्राणनाथ को दूध दिया पीने को तो क्या देखती हूँ कि मुख में छाले पड़ गये हैं। हमने पूछा, क्या बात हुई महाराज ! तो प्राणनाथ कहने लगे कि मालूम होता है कि राधा को किसी ने गरम दूध दे दिया पीने को इसलिए छाले पड़ गये। यह कहावत है ना कि– "इश्क में तासीर है, पर दर्द कामिल चाहिए।"

आप यह जानते हैं कि किसी स्त्री के मन में अगर यह

बात आ जाय कि मेरे पति को कोई और प्रेम करता है या मेरे पति किसी और को प्रेम करते हैं तो यह बात उसे सुहाती नहीं, अच्छी नहीं लगती। रुक्मिणी जी का चित्त उदास हो गया। पर यह है प्रेम का भोग ही। तो जब रुक्मिणी जी का चित्त उदास हो गया तो प्रेम में शिथिलता आ गयी, क्योंकि वहाँ अपना अधिकार आ जाता है। रुक्मिणी जी का चित्त इधर उदास हुआ उधर श्यामसुन्दर के मन में पीड़ा आरम्भ हुई। अब श्यामसुन्दर के सिर में पीड़ा होने लगी तो उदास हो गये। रुक्मिणी जी ने देखा कि प्राणनाथ आज बड़े उदास हैं तो बोलीं कि हे प्राणनाथ ! आज क्या बात है, आज आप कैसे उदास हो गये ? जब पूछती हैं तो और अधीर होते हैं–"कुछ बात नहीं हैं रुक्मिणी जी।" कुछ तो है महाराज? आज आप का चित्त प्रसन्न नहीं है। "कुछ बात नहीं है रुक्मिणी जी, सिर में पीड़ा हो रही है !" अब प्राणनाथ की सिर की पीड़ा सुन कर रुक्मिणी जी बड़ी आकुल हो गईं, व्याकुल हो गयीं। है तो प्रेम ही न! कहिये महाराज, कोई उपचार ? जो उपचार की बात सुनी तो श्यामसुन्दर और अधीर हो गये। और कहने लगे–अरे रुक्मिणी जी ! इस द्वारिकापुरी में उपचार कहाँ ? रुक्मिणी कहने लगीं–महाराज ! जिस द्वारिकापुरी में अष्टसिद्धि, नव-निधि वास करती हैं, वहाँ उपचार नहीं हो सकता? बोले 'रुक्मिणी जी यहाँ वह औषधि ही नहीं मिलेगी।' बोलीं–आप बताओ तो सही, कौन-सी ऐसी औषधि है।–कि औषधि तो कुछ नहीं। यदि हमारा कोई प्रेमी होता और अपने चरण की रज लगा देता तो पीड़ा दूर हो जाती। रुक्मिणी जी सोचने लगीं–प्रेमी तो हम भी हैं चरण भी हैं और रज भी है। पर ये हमारे पति हैं, हम इनकी पत्नी हैं, भला पत्नी पति के

सिर पर अपनी चरण रज लगाये तो नर्क भोगना पड़ेगा। तो महाराज रुक्मिणी जी का साहस नहीं हुआ। अब पीड़ा तो हो ही रही है। इतने में नारद बाबा आये। नारद बाबा ने पूछा–रुक्मिणी जी आप उदास कैसी हैं? कि "दण्डवत् महाराज, उदास क्या हैं, प्राणनाथ के सिर में बड़ी पीड़ा हो रही है।" ये भी तो भक्त हैं। वे गये श्यामसुन्दर के पास। कहा–महाराज आज कैसी उदासी छायी है। बोले–"कुछ नहीं–बाबा, दण्डवत्, आओ विराजो। उदासी क्या छायी है बाबा, आज सिर में बड़ी पीड़ा हो रही है।" ब्रह्मर्षि जी बोले कोई उपचार नहीं है? बोले"उपचार तो है बाबा,पर दवाई नहीं मिलती।" तो बोले, कौन सी ऐसी दवाई है? श्यामसुन्दर बोले कि दवाई तो और कुछ नहीं, कोई हमारा प्रेमी होता और अपने चरणों की रज लगा देता तो सिर की पीड़ा दूर हो जाती। नारद बाबा सोचने लगे–प्रेमी तो हम भी हैं, चरण की रज भी है, पर हमारा दास्य-भाव है। ये स्वामी हैं, हम दास हैं। भला दास स्वामी के मस्तक पर चरण रज लगाये तो नरक भोगना पड़ेगा। नारद बाबा का भी साहस नहीं हुआ।

और आप जानते हैं जब प्रेमी पर आपत्ति आती है तो प्रेमियों की ओर दौड़ते हैं। नारद बाबा दौड़े-दौड़े ब्रज में आये। अब यहां देखते हैं कि सब प्रेम-समाधि में डूबे हुए हैं। किसी को तन-मन की सुध तो है नहीं। तो वहाँ कोई दण्डवत् ही न करे। कोई पूछे ही नहीं–कहां ते आयो, कौन बाबा है। क्योंकि बेमन के लोग कैसे सोचें? नारद बाबा सोचने लगे, क्या उपाय करें? यह नियम है न कि जो जैसा है उसको उसकी रुचि की बात कहो तो उसमें चेत आता है। तो नारद बाबा बड़े जोर-जोर से

"श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण" कहने लगे । तो अपने प्यारे के नाम की भनक जब ब्रज-गोपियों के कान में पड़ी तो प्यारे की हर चीज अपने को प्यारी होती है । प्यारे का नाम भी तो उनको अत्यन्त प्रिय है । तो प्रिय के नाम की भनक जब ब्रज-गोपियों के कान में पड़ी तो पलक ऊपर को उठ गया । देखती हैं कि ब्रह्मर्षि श्री नारद बाबा खड़े हैं । तो आप जानते हैं प्रेमियों को प्रेमियों के मिलन के समान तो और कोई सुख नहीं है । तो नारद बाबा को खड़ा हुआ देख–दण्डवत् बाबा, दण्डवत् बाबा । अरे बाबा ! कहाँ से आये हो । बाबा दण्डवत् । क्योंकि सब जानती हैं कि ये विचरते रहते हैं । अब बाबा बोले ही नांय । अरे बाबा ! तू सुने नांय ! बताये नांय ! तेरे कान नांय बाबा ! जब संकल्प पूरा नहीं होता तो और चेतना आती है । पूछने लगीं–कहाँ ते आयो है बाबा ! बता बाबा ! तो बोले–आवत तो मैं द्वारिकापुरी ते हूँ । तो जो प्यारे के धाम की बात सुनी तो और चेत हो गया और चारों ओर से यही आवाज आने लगीं–हमारे प्यारे अच्छे तो हैं ? हमारे प्यारे अच्छे तो हैं ? अब बाबा–बोले ही नांय । प्रेम में बड़ा अनन्य चिन्तन बना रहता है । अरे बाबा तू सुने नांय, बोले नांय । बता ! हमारे प्यारे अच्छे तो हैं । नारद जी बोले–अच्छे तो हैं पर उनके सिर में पीड़ा हो रही है । अब जो गोपियों ने सुना कि श्यामसुन्दर के सिर में पीड़ा हो रही है तो एकदम व्याकुल होकर कहने लगीं–"हाय ! हाय ! ! उस द्वारिकापुरी में कोई उपचार करने वाला नहीं है । यदि वे ब्रज में होते तो उनकी मैया उपचार करती ।" अपने प्रेम पर भरोसा नहीं है । अपनी योग्यता पर भरोसा नहीं है । अरी गोपियो,उपचार करने वाले तो वे ही बड़े चतुर वैद्य हैं, पर औषधि ही नहीं मिलती । अरे बाबा ! कौन सी ऐसी

औषधि है जो नहीं मिल रही ? जल्दी बता बाबा। औषधि तो यह है गोपियो ! यदि कोई उनका प्रेमी होता और अपनी चरण की रज दे देता तो उनके सिर की पीड़ा दूर हो जाती। अरे बाबा, जा जल्दी जा, जितनी चाहे उतनी लेजा। "अरे गोपियों ! तुम बावरी हुई हो। तुम नहीं जानती हो कि श्याम सुन्दर पूर्ण ब्रह्म, सच्चिदानन्दघन हैं। भला तुम उनके मस्तक पर अपनी चरण रज लगा करके नर्क को भोगोगी।" बोलीं- बाबा, तुम नांय जानो, हम तो भली भाँति जानती हैं। हम भली भांति जानती हैं कि वे पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्दघन हैं। पर बाबा तू नांय जाने। तो बोले-क्या बात हम नांय जाने? तुम ये नांय जानो कि हम एक जन्म नहीं अनेक जन्मों तक नर्क की यातना सह सकती हैं, पर प्यारे की पीड़ा नहीं सह सकतीं। यह है गोपी प्रेम ! गोपी प्रेम।

तात्पर्य कहने का यह था कि यह गोपी-प्रेम हम सबका अपना प्रेम है, यह मनुष्यमात्र को प्राप्त हो सकता है। जैसा कि आरम्भ में निवेदन किया था कि इस प्रेम में तीन बातें हैं—वे अपने हैं, मुझे उनसे कुछ चाहिए नहीं, अपने पास अपना कुछ नहीं है, उनकी आत्मीयता में ही अगाध प्रियता है। यह प्रेम मनुष्य मात्र को प्राप्त हो सकता है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

—:-०-:—

८
(अ)

(१) बल है संसार के लिये,

(२) ज्ञान है अपने लिये,

(३) विश्वास है भगवान के लिये।

यह मानव जीवन का सत्य है। शरीर का बल संसार के हित में लगा देने से राग की निवृत्ति हो जाती है। ज्ञान के प्रकाश में निर्मम और निष्काम हो जाने से देहातीत होने की सामर्थ्य आती है। आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक ईश्वर को अपना मान लेने से भक्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है।

सर्व समर्थ प्रभु की आत्मीयता से अनाथपन का दुःख सदा के लिए मिट जाता है। मनुष्य अनाथ नहीं है। जो प्रभु विश्वासी नहीं है, जो कर्तव्य विश्वासी नहीं है, और जो आत्म-विश्वासी नहीं हैं, वही अनाथ है।

जीवन दाता ने मानव को यह स्वाधीनता दी है कि मनुष्य जब चाहे तब धर्मात्मा होकर, जीवन मुक्त होकर और भगवत् भक्त होकर कृत-कृत्य हो सकता है।

—:०:—

प्रवचन :

किसी नाते से मानिये साहब, पर सभी को अपना अवश्य मानिये। यह तो मानने की चीज है। ये जानने की चीज नहीं है, कि सभी अपने हैं कि नहीं। यह मानने की चीज है। अथवा, परमात्मा को अपना मानिये अथवा इस बात को जानिये कि मेरा करके कुछ नहीं है। यह जीवन का सत्य है। यह कल्पना नहीं है। मेरा करके कुछ नहीं है, मेरा कोई नहीं है। उसमें कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन कोई है और कोई नहीं है! यह मेरा क्यों है, क्योंकि यह मेरे मजहब का है। यह मेरा क्यों है, क्योंकि मेरे इज्म का है। यह मेरा क्यों है, क्योंकि मेरे परिवार का है। यह बड़ी भारी भूल है। मैं आपसे क्या बताऊं। इस भूल से मानवता समाप्त हो गयी। मानवता को मिटाने वाली और कोई चीज नहीं है, यही भूल है। या तो आप यह मानते कि मेरा करके कोई नहीं है,-तो आप असंग होकर अपने में संतुष्ट रहते, कोई बात नहीं थी। लेकिन कोई मेरा है और कोई मेरा नहीं है, यह बड़ी भारी भूल है। इस भूल को बिना मिटाए, कभी भी, कोई भी साधक मेरे जानते साधन-निष्ठ नहीं हो सकता। और चाहे वह कुछ हो जाय, साधननिष्ठ नहीं हो सकता। जब साधननिष्ठ नहीं हो सकता तो जीवन की सार्थकता ही समाप्त हो गई, जीवन ही असफल हो गया।

इसलिए, क्या आज हम और आप इस सत्य पर विचार करने के लिए राजी हैं—कि **प्रभु अपने हैं, अपना कुछ नहीं है,**

अथवा **सभी अपने** हैं। अगर इस सत्य को स्वीकार नहीं कर सकते, तो आप धर्मात्मा भी नहीं हो सकते, जीवन मुक्त भी नहीं हो सकते–भक्त भो नहीं हो सकते और चाहे कुछ हो जायं। क्या राय है?

श्रोता–सत्य है स्वामी जी।

अगर इस सत्य को नहीं मानतें तो आप धर्मात्मा नहीं हो सकते, जीवन मुक्त नहीं हो सकते, भक्त नहीं हो सकते। धर्मात्मा नहीं हो सकते तो जगत के काम नहीं आ सकते, जीवन मुक्त नहीं हो सकते तो अपने काम के नहीं रहे और भगवत्-भक्त नहीं हो सकते तो प्रभु के काम नहीं आ सकते। तो उस भाई की बात पर मुझे ख्याल आया कि बिचारा कितना भोला है। अरे भाई सोचो, विचार करो धीरज से कि सीमित प्यार और सीमित उदारता क्या पशु-पक्षियों में नहीं है। क्या राय है?

श्रोता–है।

तो मैंने कहा कि वह भाई अगर मेरा प्रेमी होता तो यह सोचता कि कोई बात नहीं है, स्वामी जी का शरीर नहीं रहेगा तो उनका प्यारा-प्यारा जो "मानव सेवा संघ" है, ऐसा मानलो थोड़ी देर के लिए कल्पना करलो, मैं तो भगवान का मानता हूँ अपना नहीं मानता हूँ। भगवद्नाते ही "मानव सेवा संघ" की सेवा करता हूँ। तो अब वह काम हम करेंगे, क्योंकि अपने प्यारे का लगाया हुआ पौधा है, सीचेंगे इसको। तो वह सही अर्थ में मेरा प्रेमी हो जाता। ऐसे ही जो प्रभु का भक्त है, मानलो थोड़ी देर के लिए, व्यक्ति को हटादो, तो क्या यह हो सकता है कि

निर्बैर न हो और परमात्मा की प्राप्ति हो जाय। समता न हो और परमात्मा की प्राप्ति हो जाय ! उदारता न हो और परमात्मा की प्राप्ति हो जाए। यह हो सकता है कभी ?

श्रोता–नहीं हो सकता।

स्वामी जी–कभी हो ही नहीं सकता।

इसीलिए मेरा नम्र निवेदन है कि तीन बातें आप की सेवा में निवेदन की और तीन ही आपके पास शक्तियाँ है–बल, है, ज्ञान है और विश्वास है। तो बल है संसार के लिए। बल से आपको शान्ति नहीं मिलेगी। बल से आपको मुक्ति नहीं मिलेगी। और ज्ञान है अपने लिए तथा विश्वास है परमात्मा के लिए। क्योंकि बिना विश्वास के आप परमात्मा से सम्बन्ध नहीं जोड़ सकते। और बिना ज्ञान के आप न शान्ति पा सकते हैं न मुक्ति पा सकते हैं और न ही निर्विकारता पा सकते हैं। और बल संसार के लिए है। अब हमसे बड़ी भारी भूल यह होती है कि हम मिले हुए बल को अपने लिए मानते हैं। सेवा करते हैं, तो उसके बदले में हमें मान और भोग मिलना ही चाहिए। बड़ी भारी वीकनेस (निर्बलता) है यह। यह निर्बलता किसमें नहीं है, इसे तो प्रभु जानें या वो जाने, हमें तो मालूम नहीं। हमने अपने जीवन में इस वीकनेस का अनुभव किया है और इस बात को देखा है कि जो आदमी सेवा के बदले में भी व्यक्तिगत सम्मान चाहता है, भोग चाहता है, उससे सेवा बनेगी नहीं। क्योंकि सेवा का फल तो त्याग है और त्याग का फल प्रेम है। अगर आपने ठीक सेवा की है किसी की, तो आप में त्याग का बल आना चाहिए। और जब ठीक त्याग

का बल आ गया है, तो प्रेम का उदय होना चाहिए। इसीलिए मैं हमेशा लोगों से कहता हूँ कि भाई, हमें बल के द्वारा सेवा करनी है और सेवा के द्वारा त्याग को प्राप्त करना है। सेवा का फल है त्याग। त्याग के द्वारा बोध भी प्राप्त होता है और प्रेम भी प्राप्त होता है। जो प्रभु विश्वासी हैं उन्हें प्रेम प्राप्त होता है और जो अध्यात्मवादी हैं उन्हें बोध प्राप्त होता है। और जब तक आपको बोध और प्रेम की प्राप्ति नहीं होती, तब तक जीवन में पूर्णता होती है क्या ?

श्रोता–नहीं होती।

स्वामी जी–कभी नहीं होती।

इसीलिए मेरा यह निवेदन था कि भाई ! मान लीजिए, थोड़ी देर के लिए कि आपको मानव सेवा संघ अपना संघ नहीं मालूम होता ओर उसका प्रवर्तक अपना मालूम होता है। यह वही दशा होगी कि जिन्हें परमात्मा अपना मालूम हो और सृष्टि अपनी न मालूम हो। क्या राय है ?

श्रोता–ठीक है।

तो हम अपने साथियों से, अपनी बालिकाओं से खास तौर से कहते हैं कि अगर यह बात तुमको पसन्द है कि पिताजी तुमको अच्छे लगते है, तो भाई ! पिताजी की व्यथा में तुम हाथ बटाओ। जो दूसरे की व्यथा में हाथ बटाता है, पंडित जी, मैं आपको बड़ी ईमानदारी से कहता हूँ कि उसको अपनी व्यथा से व्यथित नहीं होना पड़ता और जो दूसरे की व्यथा में हाथ नहीं बटायेगा, वह बच नहीं सकता कि अपनी व्यथा से व्यथित न हो।

पंडित जी–गहरा दर्शन है।

बहुत ईमानदारी की बात है। अगर आप चाहते हैं कि हम व्यक्तिगत दु:ख से दु:खी न हों तो दूसरों के दु:ख से दु:खी हो जाइये, क्योंकि दु:खी होना जरूरी है। क्यों जरूरी है? कि दु:ख के प्रभाव से ही सुख का प्रलोभन नाश होता है। हमनें सुना था, मालूम नहीं कहां तक ठीक है–पडित लेखराम का लड़का बीमार था और उनके पास खबर आई कि तीन सौ आदमी ईसाई होने जा रहे हैं, या मुसलमान होने जा रहे हैं, ठीक मालूम नहीं।

श्रोता–मुसलमान होने जा रहे थे।

तो मुसलमान होने की बात थी। पत्नी ने कहा कि लड़का बीमार है, आप कहाँ जा रहे हैं? उन्होंने कहा "मेरे तीन सौ लड़के बीमार हैं। एक लड़के के लिए तीन सौ को कैसे छोड़ दें?" तो उनके दिल में दर्द था एक। हम नहीं कहते कि वही दर्द हमारे दिल में भी हो, लेकिन तो दर्द हो!

तो, जो आदमी दु:ख से बचना चाहता है, कठिनाई से बचना चाहता है, वह न शांति पाता है और न दु:खहारी हरि को पाता है। हमें जो मिलना है वो दो ही चीजें मिलनी हैं–शान्ति और प्रभु। तीसरी चीज तो मिलनी है नहीं। आप चाहें कि आपको सुख, सुविधा, सम्मान सदैव मिलता रहे। तो महाराज कितनी ही सुख-सुविधा-सम्मान की तैयारी करो, यह सुरक्षित नहीं रहता है, क्योंकि यह रहने वाली चीज नहीं है। न सुख रहने वाली चीज है, न सुविधा रहने वाली चीज है और न सम्मान रहने वाली चीज है। हाँ, यह दूसरों को देने वाली चीज हैं। अगर आप में हिम्मत है, बहादुरी है, तो दूसरों

को सुख दीजिए, सुविधा दीजिए, सम्मान दीजिए। लेकिन आप स्वयं सुख-सुविधा-सम्मान का भोग करना चाहें, यह सम्भव नहीं होगा, यानी मिलेगा नहीं। कितना ही आप प्रयास करें, आपको मिलेगा नहीं, यदि मिल भी जाएगा तो रहेगा नहीं। तो सुख, सुविधा हमें नहीं चाहिए, परन्तु यदि सम्भव हो सके तो हम दूसरों को सुख दें, दूसरों को सुविधा दें, दूसरों को सम्मान दें। ये देने की चीजें हैं, लेने की चीज नहीं हैं। और हमसे बड़ी भारी गलती यही हो जाती है कि हम देने वाली चीज को लेने लगते हैं। दुःख का प्रभाव लेने की चीज है। अगर आपको संसार से कुछ लेना है, तो इस दुःखी संसार के दुःख से आप दुःखी हो जाइये।

तो मै आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि रोज हम पाठ करते हैं–'बिन सत्संग विवेक न होई, राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।' और 'भक्ति स्वतन्त्र सकल गुण खानी, बिन सत्संग न पावहि प्राणी।' तो भैया, यह पाठ ही करते रहोगे कि सत्य को स्वीकार भी करोगे! बिना सत्संग के विवेक नहीं होगा, विवेक के बिना मोह नहीं मिटेगा, बिना मोह के मिटे अनुराग नहीं होगा, बिना सत्संग के भक्ति नहीं मिलेगी। तो वह कौन सा सत्संग है कि जिसके बिना भक्ति नहीं मिलेंगी? वह यही सत्संग है कि सुख-सुविधा की दासता से हम मुक्त हों। अगर आपके पास बल है तो–क्योंकि यह सब बल से सम्बन्ध रखते हैं–सुख भी, पण्डित, जी बल से ही सम्बन्ध रखता है। भोग्य पदार्थ हो, भोगने की शक्ति हो तब भोग सिद्ध होगा। सम्मान भी बल से सम्बन्धित है, किसी के काम आओ तो सम्मान मिले। जिसके आप काम आयेंगे वही आपको सम्मान

देगा और उसी के द्वारा आपको सुविधा मिलेगी। तो ये बल के साधन हैं–सुख–सुविधा–सम्मान। जिसके पास बल होगा उसको सुख मिलेगा, सुविधा मिलेगी, सम्मान मिलेगा। हमारे पास बल नहीं है, हमको नहीं मिलते। अगर हम आज आगरा डाक्टर को दिखाने जाना चाहें तो हमारे पास साधन नहीं हैं। परन्तु जिनको बल प्राप्त है, जिन्होंने बल का सम्पादन कर लिया है, वे जा सकते हैं। लेकिन उस बल के द्वारा जीवन की समस्या हल नहीं हो सकती। इसलिए जो लोग निर्बल हैं, उन्हें यह सोचना चाहिए कि उनके लिए यह सुलभ है कि वे अचाह हो जायं। एक बलवान के लिए यह सुलभ नहीं है कि वह अचाह हो जाये, क्योंकि वह सुविधा क्यों छोड़ेगा !

इसीलिए मैं आपसे निवेदन कर रहा था कि 'मानव सेवा संघ' की प्रणाली में यह बात बताई गई है कि हम चाहे जिस परिस्थिति में हों, सत्य को स्वीकार करने में कोई पराधीनता नहीं है। अब, जैसे कि मान लो थोड़ी देर के लिए यह शरीर है, निर्बल हो रहा है। अगर यह सत्य मेरे जीवन में उतर जाय कि "शरीर मेरे लिए नहीं है," तो उसकी चिन्ता समाज को होगी कि मुझको ? मुझको चिन्ता हो और समाज को उपेक्षा हो तो ? तो इसका मतलब क्या है ? इसमें समाज का दोष नहीं है। यह सब मेरी ही भूल है कि मैंने कहीं न कहीं शरीर को अपने लिए माना होगा। "मानव सेवा संघ" बड़े डंके की चोट यह बात कहता है कि भैया, शरीर तो लोकहित के लिए है, पर-सेवा के लिए है। अगर शरीर के द्वारा तुम बैठकर ध्यान करो तो भी इसी भाव से करो कि लोक-हित हो। जप करो तो इसी भाव से करो कि लोक-हित हो। तीर्थ-यात्रा करो तो इसी

भाव से करो कि लोक-हित हो। शरीर के द्वारा होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति लोक-हित के लिए है, अपने लिए नहीं है। और जब से इस सत्य को मानव ने ठुकराया है तब से मानव समाज में अनेकों संघर्ष पैदा हो गये और पैदा होते रहेंगे, कोई रोक नहीं सकता। शरीर का बल, योग्यता का बल, सम्पत्ति का बल–यह सब शरीर ही से संबन्धित हैं, शरीर की ही जाति के हैं। वस्तु है, योग्यता है, सामर्थ्य हैं, सम्पत्ति है–ये सब शरीर की जाति के ही हैं। शरीर कह दो चाहे वस्तु कह दो, शरीर कह दो चाहे योग्यता कह दो, शरीर कह दो चाहे सामर्थ्य कह दो। क्या राय है पण्डित जी ?

पंडित जी–सत्य है।

तो यह लोक हित के लिए हैं। और भैया, सबसे बड़ा लोक–हित यही है कि आप किसी को कष्ट न दो। किसी को कष्ट मत दो, किसी का बुरा मत चाहो, किसी को बुरा मत समझो। किसी का बुरा मत सोचो। किसी का बुरा सोचना–इससे भी नीची श्रेणी कोई हो सकती है क्या ? सभी को सुख दो यह तो बाद की बात है, पर किसी को दुःख न दो, किसी का बुरा न चाहो, किसी को बुरा न समझो–यह तो आप कर सकते हैं। अगर तुम इस बात को ही पूरा करलो तो सेवा करने वालों की सूची में तुम्हारा एक नम्बर नाम हो जायेगा।

तो वह सबसे बड़ा सेवा करने वाला है जो किसी को किसी प्रकार से दुःख नहीं देता। किसी का बुरा नहीं चाहता। अब बताओ इस सेवा से भी हम वंचित हो जायं ?

श्रोता-नहीं।

यह सेवा तो जब चाहो तब कर सकते हो। अच्छा, सेवा का तो भाव न हो और आप कहो कि हम शारीरिक बल के द्वारा हिमालय की कन्दरा में बैठ कर ब्रह्म-प्राप्ति कर लेंगे। आप जाकर करलें, और करके आ जायं और मुझ से कहें तो मैं मान लूंगा। पर मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैंने भी उत्तराखण्ड की यात्रायें बहुत की हैं, बहुत घूमा हूँ। मैंने उत्तराखण्ड के त्यागी-वैरागियों का मन निवृत्ति में नहीं देखा है, मन निवृत्ति में नहीं देखा है। उन्हें मनीआर्डर का ध्यान आता है, तारीख का ध्यान आता है, चिट्ठी का ध्यान आता है और जब कभीवे उत्तराखण्डवासी तपस्वी नीचे (मैदान) में आते हैं तो उनको हर्ष होता है कि यहाँ तो साग भी खाने को मिल गया, वहाँ तो केवल नमक ही मिलता था। यह बात मैं उन बिचारों के तिरस्कार की दृष्टि से नहीं कहता हूँ। बुद्धिमान वह है जो दूसरों से सीखे। तो मैंने सीखा है कि उत्तराखण्ड में बैठने मात्र से भगवत्-प्राप्ति नहीं होती। यह मैं उतराखण्ड का खण्डन नहीं कर रहा हूँ, यह मत समझियेगा। मेरे मन में उतराखण्ड के प्रति बड़ी श्रद्धा है। मुझे जाने को मिलता है तो मैं गंगा किनारे जाता हूँ, जमुना किनारे जाता हूँ। ऐसी बात नहीं है कि मैं अश्रद्धा करता हूँ। लेकिन मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि शारीरिक बल के द्वारा आप सत्य को नहीं पा सकते।

सत्य को पाने के लिए तो आपको ज्ञान का प्रकाश मिला है। चाहे यहाँ बैठ कर ज्ञान का आदर करो भाई, चाहे गंगा किनारे बैठ कर ज्ञान का आदर करो और चाहे उत्तराखण्ड में बैठ कर करो। अगर आप अपने ज्ञान का आदर नही करेंगे, तो आपको सत्य नही मिल सकता। और ज्ञान ही हमको यह

प्रेरणा देता है कि बल अपने लिए नहीं है। ज्ञान ही हमको यह प्रेरणा देता है कि वस्तु अपने लिए नहीं है। ज्ञान ही हमको यह प्रेरणा देता है कि योग्यता अपने लिए नहीं है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य जो है वह दूसरों के लिए है। और जितना आप दूसरों के लिए इसका व्यय करेंगे उतना ही दूसरे लोग आपके शरीर की देखभाल करेंगे। यदि आपको वस्तु नहीं मिलती है तो इसका अर्थ यह है कि आपने बल दूसरों की सेवा में लगाया नहीं। नहीं तो संसार नहीं भूलता है भाई मेरे! संसार कभी नहीं भूलता है आपके किये को। मैं संसार को बिगड़ा हुआ कभी नहीं मानता हूँ पण्डित जी। मैं तो अपने को ही बिगड़ा हुआ मानता हूँ 'हम न बिगड़ते तो दुनिया न बिगड़ती।' यानी दुनिया में बुराई दिखाई नहीं देती। हमारी ही बुराई दुनिया में दिखाई देती है, ऐसा मैं मानता हूँ। इसलिए भैया, तुम्हें अगर सुविधा नहीं मिली है तो इसमें किसी और का दोष नहीं है। तुमने बल का उपयोग दूसरों की सेवा में नहीं किया-भोग में किया, सुविधा में किया, सम्मान में किया। नहीं तो यह हो नहीं सकता कि समाज आपकी जरूरत को अनुभव न करे। मैं क्या बताऊं आपको, संसार तो समाज से भी बड़ी चीज है न! तो दैवी शक्तियाँ उसकी मदद के लिए तत्पर हो जाती हैं। हमारे गुरु ने, जिस दिन हम कपड़ा रंग कर घर से चले, उसी दिन यह बात कही थी कि बेटा! अगर तुम स्वाधीन हो जाओगे तो प्रकृति तुम्हारी सेवा करने के लिए लालायित हो जायगी। और हमने देखा कि जितनी हमने पराधीनता छोड़ी उतनी ही हमको संसार ने सुविधा दी। जितनी हमने पराधीनता पसन्द की, हमने अपने आप असुविधा पैदा कर ली। यह हमारे जीवन का अनुभव सिद्ध सत्य है, गुरु की वाणी है।

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता था कि यह कभी न सोचें कि हम अनाथ हैं, कोई भाई न सोचे, कोई बहन न सोचे कि हम अनाथ हैं कि सर्व-समर्थ प्रभु हमारे साथ नहीं हैं, हमारे नहीं हैं–यह भ्रम कभी मत पालो। अगर इस प्रकार आप सोचते हैं तो विश्वास की जीवन में जरूरत ही नहीं है। विश्वास केवल इसी बात में करना है कि चाहे हम जानते हैं अथवा नहीं जानते हैं, चाहे हम मानते हैं अथवा नहीं मानते हैं, लेकिन संसार का प्रकाशक, संसार का आधार, सर्व-समर्थ प्रभु हम सबका सदा-सदा के लिए अपना है। उसी को अपना मानो। पहला नम्बर। अगर आप सोचते हैं कि भाई, यह बात प्रभु ने तो हमसे कही नहीं, आप कहते हैं तो आपको क्यों न माने ? तो हमारे मानने का अर्थ है कि इस बात को मानो, न कि शरीरको मानो। इस बात को मानो कि कोई भी मनुष्य अनाथ नहीं है। तो जब लड़की की आवाज मेरे कान में आयी कि पिताजी नहीं रहेंगे तो मेरा कोई नहीं रहेगा–तो एक धक्का लगा मुझको, एक चोट लगी। यह बावरी लड़की क्या सोचती है? क्या जगत्‌पिता,जगत्‌पति कहीं चला गया है, जो तेरा कोई नहीं रहेगा ? यह भ्रम है, इसको दिल से निकाल दे, और यह शरीर नाश हो जायगा तो मैं भी चली जाऊंगी, मैं भी मर जाऊंगी, सो मत सोच। इस शरीर का जो काम बाकी है सो मैं करूंगी। वीर लड़की बन। अगर तेरा बाप वीर है तो तू वीर बन कि, "पिताजी ! आप आराम से मरो, आप का बचा हुआ काम मैं पूरा करूंगी।" यह बहादुरी है, यह वीरता है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि मेरा बचा हुआ काम केवल इस आश्रम को बनाये रखना है। यह मत सोचियेगा। इस भ्रम में मत रहियेगां। मेरा बचा हुआ काम है–सोई हुई मानवता को जगाना। तुम यहाँ बैठ कर सही सेवा करो। सभी के लिए

उपयोगी होने की चेष्टा करो। जैसे, कल पण्डित जी ने कहा कि मैं क्या उपयोगी होऊंगा ? मैंने कहा कि पण्डित जी, अगर आप अपने लिए उपयोगी हो जायेंगे तो मेरे लिए भी उपयोगी होंगे। कहा था कि नहीं पण्डित जी ?

पण्डित जी–सत्य है।

तो भाई, मानवता को जगाओ। मानवता क्या है? **सेवा-त्याग-प्रेम**। तुम्हारे रोम-रोम में सेवा का महत्व हो,त्याग का महत्व हो, प्रेम का महत्व हो। यही मेरा काम है। ईंट-पत्थर इकट्ठा करना मेरा काम नहीं है। यह तो हो गया, समाज की उदारता से बन गया और समाज की उदारता से ही चलेगा। यह मेरे बनाने से नहीं बना। यह भ्रम है जो लोग समझते हैं कि आश्रम मैंने बना लिया। कोई नहीं बना लेता। आश्रम बनता है समाज की उदारता से और समाज की उदारता कैसे प्राप्त होती है कि भाई तुम समाज के लिए उपयोगी हो जाओ, समाज की उदारता तुम्हारे साथ रहेगी।

अगर यह बात आपको जंच जाय, रुच जाय, पसन्द आ जाय, तो आप गंभीरता पूर्वक विचार करें कि हम सत्संग की महिमा जो गाते हैं रोज, उसको पूरा कब करेंगे ? चाहिए तो यह था–पहले पूरा करते, पीछे गाते। परन्तु कोई बात नहीं। पहले गाओ पीछे पूरा करो। हर भाई के मन में, हर बहन के मन में यह सत्य आना चाहिए कि मैं अनाथ नहीं हूँ। विश्वनाथ के रहते हुए कोई अनाथ कैसे हो सकता है ! जगत्पति के रहते हुए तुम विधवा कैसे हो सकती हो ! जगत्पति मौजूद है और तुम विधवा हो गईं ? यह कैसे हो सकता है ! जगत्पिता

मौजूद है और तुम अनाथ हो गईं–यह कैसे हो सकता है !! जगदाधार मौजूद है, जगत्पिता मौजूद है, जगपत्पति मौजूद है–यही आपको मानना चाहिए। आप अनाथ नहीं है, सनाथ हैं। क्यों ? जो प्रभु विश्वासी नहीं है वही अनाथ है। जो कर्तव्य–विश्वासी नहीं है वही अनाथ है। जो ज्ञान का आदर नहीं करता, वही अनाथ है। आप कर्तव्य में आस्था रखो, ज्ञान में आस्था रखो, प्रभु के विश्वास में आस्था रखो–अनाथ नहीं हो सकते। और अगर इन तीन चीजों को आप नहीं रखना चाहते हो तो सनाथ हो ही नहीं सकते। कितने जन्म बिताये हैं तुमने अनाथ हो-हो कर। आगे फिर अनाथ बनोगे ? अब तो सदा के लिए सनाथ हो जाओ भाई। और वह तभी हो सकते हो, जब इस सत्य को स्वीकार करो कि मेरे पास जो कुछ बल होगा वह समाज-सेवा के लिए होगा, लोक-हित के लिए होगा। मेरा ज्ञान मेरी भूल मिटाने के लिए होगा। मेरा विश्वास प्रभु से सम्बन्ध जोड़ने के लिए होगा। और तो कुछ करना नहीं है। यही चारों वेद हैं हमारे तो। इससे ज्यादा तो हम जानते नहीं पण्डित जी !

पण्डित जी-यथार्थ यही है और वेदों का सार भी यही है।

वेद माने ज्ञान के। ज्ञान का यह प्रकाश है और यही वेदों का सार है। वेदों में यह क्रमबद्ध रूप से सभी के लिए कहा गया है। विस्तार से कहा गया है। क्रम से कहा गया है। इतना ही फर्क है। वह क्रम हमको नहीं मालूम, वह पद्धति हमको नहीं मालूम। लेकिन यह हमको मालूम है कि बल दूसरों के लिए है, ज्ञान अपने लिए है, विश्वास प्रभु के लिए है। और

यह तीनों तत्व आप में मौजूद हैं। अल्पबल हो तो कोई परवाह नहीं। अल्पबल के सदुपयोग से वही सत्य मिलेगा जो विशेष बल के सदुपयोग से मिलेगा। ज्ञान के उपयोग से जो जीवन मिलेगा किसी को वही तुमको मिलेगा। विश्वास के उपयोग से जो जीवन किसी को मिलेगा वही तुमको मिलेगा। अगर वह परमात्मा नबी मोहम्मद का दोस्त हो सकता है, ईसा का बाप हो सकता है, मीरा का पति हो सकता है, तो तुम्हारा भी हो सकता है! यह बात नहीं है कि उन्हीं का हो सकता है और तुम्हारा नहीं हो सकता। लेकिन तुम विश्वास करो तब न! यदि विश्वास ही नहीं करो तो कैसे तुम्हारा हो जायेगा।

अगर आपको ईश्वर में विश्वास नहीं होता तो मैं मजबूर नहीं करता हूँ क्योंकि ईश्वर उनका भी है, जो उसमें विश्वास नहीं करते। ईश्वर की सूची में से तुम्हारा नाम नहीं कटेगा। तुम मानो तो और न मानो तो। लेकिन भाई! ईश्वर के दिए हुए ज्ञान का अनादर मत करो। ईश्वर के दिए हुए बल का दुरुपयोग मत करो। यह तो मान लो। कानून तो मान लो। अब यहाँ किसी पार्टी की गवर्नमेंट बनती है। आप नहीं मानना चाहते। नहीं मानना चाहते मत मानो। भई गवर्नमेन्ट का कानून मान लो। आप कहो–न हम गवर्नमेन्ट को मानेंगे, न कानून को मानेंगे तो नहीं पकड़े जायेंगे? पकड़े जायेंगे, कोई वश नहीं चलेगा। तो दो तरह के लोग हुए संसार में। एक तो ऐसे हुए कि जिन्होंने भगवान को माना और भगवान के विधान को माना। एक ऐसे हुए जिन्होंने भगवान के विधान को माना और भगवान को पाया। माना नहीं, कहा नहीं कि भगवान हैं और पा गये, क्योंकि उन्होंने विधान को जो माना।

तो आप अनीश्वरवादियों की सूची में अपना नाम लिखाना चाहते हैं तो भी कोई आपत्ति नहीं। चाहे मैं भले ही कट्टर ईश्वरवादी हूँ, पर मैं आपको सलाह देता हूँ कि मानव सेवा संघ में तुम्हारा उतना ही स्थान है, जितना किसी ईश्वरवादी का।

तो हम सब मानव हैं, मानव होने के नाते साधक हैं। साधक होने के नाते सत्य को स्वीकार करना हमारा स्वधर्म है ओर पुरुषार्थ है। और वह सत्य यही है कि बल दूसरों के लिए है, ज्ञान अपने लिए है और विश्वास परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने के लिए है ! जिस प्रभु ने हमें मानव जीवन देकर यह स्वाधीनता दी कि हम जब चाहें तब धर्मात्मा होकर, जीवन-मुक्त होकर, भगवद्-भक्त होकर कृत-कृत्य हो सकते हैं, अब उस प्रभु की महिमा गाओ। न गाओ तो सुनो, सुनो भी नहीं, गाओ भी नहीं तो स्वीकार ही कर लो।

—: ० :—

८

(ब)

मानव उसकी संज्ञा है जो कुछ जानता है, मानता है और करता है। शरीर का उपयोग दुखःमय परिस्थिति में सेवा करने में हैं। ज्ञान का उपयोग शरीर और संसार के सम्बन्ध तोड़ने में और विश्वास का उपयोग परम प्रेमास्पद से आत्मीय सम्बन्ध मानने में है। इन तीनों में मनुष्य स्वाधीन है। अतः मनुष्य को प्राप्त शक्तियों का सदुपयोग करते हुए अशरीरी जीवन से अभिन्न होकर सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य हो जाना चाहिये।

प्रवचन :

जब प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से सभी परिस्थितियों से अतीत अविनाशी, स्वाधीन जीवन की प्राप्ति होती है तो फिर हम अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन क्यों करते हैं ? इस सम्बन्ध में सभी साधक महानुभावों को गम्भीरता से विचार करना चाहिए। परिस्थिति एक प्रकार का प्राकृतिक न्याय है और प्राकृतिक न्याय अपने विकास के लिए होता है, विनाश के लिए नहीं। इसलिए, हमें प्राप्त परिस्थिति का ठीक-ठीक सदुपयोग करना चाहिए। आगे-पीछे के चिन्तन में फंसने से कोई लाभ नहीं होगा। यह साधक के जीवन की एक बाधा है।

आप कहेंगे, ऐसा हम क्यों सोचते हैं ? ऐसा हम इसलिए सोचते हैं कि साधक का जो साध्य है वह अनुत्पन्न हुआ तत्व है, उत्पत्ति-विनाश रहित है। और जो उत्पत्ति-विनाश रहित है उसकी प्राप्ति उसके द्वारा नहीं हो सकती जो उत्पत्ति-विनाश युक्त है। हां, यह तो हो सकता है कि जो उत्पत्ति-विनाश युक्त है, यदि हम उसका ठीक सदुपयोग करें, तो हम उत्पत्ति-विनाश की परिस्थितियों से ऊपर उठ सकते हैं, असंग हो सकते हैं। किन्तु यह नहीं हो सकता कि जीवन का सत्य उसीको मिलेगा जिसका शरीर बहुत बलवान हो, अथवा जीवन का सत्य उसे मिलेगा जिसमें बहुत योग्यता हो। बहुत बलवान होगा तो अच्छा है, बहुत से निर्बलों की सेवा करेगा, यह तो हो सकता है। योग्य हो, अयोग्य की सेवा करे, यह हो सकता है। अल्प

सामर्थ्य वाला हो तो अल्प-सामर्थ्य से सेवा करे विशेष-सामर्थ्य वाला हो तो विशेष-सामर्थ्य से करे। पर यह नहीं हो सकता कि विशेष-सामर्थ्य होने से तो उसे जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति होगी और अल्प-सामर्थ्य से नहीं होगी। ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए हमें अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन नहीं करना चाहिए, अपितु प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग के लिए अथक् प्रयास करना चाहिए।

कल्पना करो कि मेरे जैसा एक अन्धा-रोगी आदमी है। ठीक है। आप जैसा स्वस्थ और आँखों वाला आदमी है। अन्तर कहाँ पड़ेगा? अगर अन्धा आदमी देखने की वासना को छोड़ सके, तो क्या उसे वह जीवन नहीं मिलेगा जो अतीन्द्रिय है, अगोचर है? यह परिस्थिति का महत्व तो केवल उन लोगों के जीवन में रहता है कि जिन लोगों को दृश्य से अतीत भी कोई है–उसमें आस्था नहीं है। और वहाँ भी आप देखिए, दृश्य के अन्दर भी परिस्थिति के भीतर भी, यदि आप विचार करके देखें तो सबल और निर्बल दोनों के सहयोग से ही संसार का काम चलता है। केवल सबलों से ही नहीं चलता। जहां एक योग्य चिकित्सक चाहिए तो वहां रोगी भी तो चाहिए। मान लीजिए योग्य चिकित्सक हो और रोगी कोई न हो, तो चिकित्सक का काम चलेगा?

श्रोता–नहीं चलेगा।

जहाँ एक सम्पत्तिशाली है वहां एक निर्धन भी तो चाहिए। अगर निर्धन न हो तो सम्पत्तिशाली का काम चलेगा? तो बलवान के साथ निर्बल रहता ही है, सुख के साथ दुःख रहता ही है। उसी सुख-दुःख का नाम, उसी सबलता और

निर्बलता का नाम परिस्थिति है । परिस्थिति कोई और चीज नहीं है। इसलिए, अगर हम निर्बल हैं तो हमें अचाह होना चाहिए। अगर हम सबल हैं तो हमें उदार होना चाहिए। निर्बल को जो सत्य अचाह होने से मिलता है सबल को वही सत्य उदार होने से मिलता है तो जैसे उदार होने से जो जीवन मिलता है तो अचाह होने से भी तो वही जीवन मिलता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो सभी परिस्थितियाँ साधन सामग्री के रूप में हैं, जीवन के रूप में नहीं हैं। क्योंकि ऐसा कोई बल है नहीं, जिसका नाश न हो। बल का नाश होता है। ऐसी कोई योग्यता नहीं, जिसमें क्षति न हो।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि आज हम सब अपनी वर्तमान परिस्थिति पर ध्यान न देकर एक अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करते रहते हैं। उसमें फ़ंस रहते हैं। उसमें सुखी-दुःखी होते रहते हैं। अतः मानव सेवा संघ की प्रणाली में यह बात बताई गई कि साधक के लिए यह बहुत आवश्यक है कि वह प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग तो करे, लेकिन अप्राप्तपरिस्थिति के चिन्तन में न फंसे। आप कहेंगे–तो क्या प्रतिकूलता हमेशा प्रतिकूलता ही रहेगी ? ऐसा नहीं है। प्रतिकूलता के सदुपयोग से भी विकास होता है और अनुकूलता के सदुपयोग से भी विकास होता है। हमसे भूल क्या होती है कि हम परिस्थिति को ही जीवन मान लेते हैं। हम अपने जीवन का मूल्यांकन परिस्थिति के आधार पर करने लगते हैं कि अमुक सज्जन बहुत बड़े आदमी हैं। क्या बात है साहब ? बहुत बड़े पूँजीपति हैं, कई कारखाने उनके पास हैं। तो भाई, अगर मिल के होने से कोई बड़ा आदमी है तो मिल बड़ा आदमी हुआ कि 'आदमी' बड़ा

आदमी हुआ ? मिल तो बड़ा हो नहीं सकता। तब मिल के आधार पर आदमी को बड़ा मानने का क्या अर्थ है ?

मैं आपसे यह नम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि यह भ्रम हम साधु-समाज में भी होता है। आज का साधु-समाज क्या सोचता है कि चलो, कैलाश की यात्रा कर आयें तो विशेषता आ जायगी अथवा बिल्कुल नंगे रह कर देखें तो विशेषता आ जायगी। यह तो कह सकते हैं कि भाई ! कम सामान रखोगे तो तुमको आराम ज्यादा मिलेगा। क्योंकि जिसको पराई कमाई खाना है, जिसको समाज के आश्रित रहना है, उसकी जरूरतें कम-से-कम हों तो अच्छी बात है यह। लेकिन नहीं, "आप जब तक नंगे नहीं रहेंगे तब तक जीवन का सत्य नहीं मिलेगा।" कोई कहे-'जब तक वन में नहीं बैठेंगे, तब तक सत्य नहीं मिलेगा।' तो यह सब भ्रम है। क्यों ? क्योंकि वन में भी आप हमेशा नहीं रह सकते। उसमें भी परिवर्तन आयेगा। घर में भी आप हमेशा नहीं रह सकते। उसमें भी परिवर्तन आयेगा। कोई भी उत्पन्न हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता एक-सी रह नहीं सकती। उसमें परिवर्तन आयेगा ही। इसलिए हमें अपनी वर्तमान परिस्थिति का पहले तो ठीक-ठीक अध्ययन करना चाहिए और फिर उसका सदुपयोग करना चाहिए। देखिये, जीवन उसे नहीं कहते जो उत्पन्न हो और नाश हो जाय। उसका नाम जीवन नहीं है। वह हमारा साध्य नहीं है। वह हमारा लक्ष्य नहीं है। परमात्मा उसे नहीं कहते जो किसी वस्तु-विशेष के द्वारा प्राप्त हो अथवा किसी योग्यता-विशेष के द्वारा प्राप्त हो अथवा किसी सामर्थ्य-विशेष के द्वारा प्राप्त हो ! उसे परमात्मा नहीं कहते। परमात्मा कहते हैं उसे कि जिसकी प्राप्ति

विश्वास से होती है। शान्ति कहते हैं उसे जिसकी प्राप्ति ज्ञान से होती हो। ज्ञान से जिसकी प्राप्ति होती है वह शान्ति कहलाती है और विश्वास से जिसकी प्राप्ति हो वह परमात्मा कहलाता है। और सर्व-दुःखों की निवृत्ति किसी परिस्थिति के द्वारा नहीं होती। अचाह होने से होती है, अकिंचन होने से होती है, निर्मम होने से होती है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि हमारा विकास किसी परिस्थिति विशेष के आश्रय की अपेक्षा नहीं रखता। हमारा विकास हमारे ही आश्रित है। यदि हम चाहें तो प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा सभी परिस्थितियों से अतीत जो अविनाशी-स्वाधीन जीवन है उसको प्राप्त कर सकते हैं। अगर आप पसन्द कर लें, तो! चाहे हमारी परिस्थिति कैसी भी हो। अगर यह बात हम लोगों के समझ में आ जाती और मानव-समाज इस सत्य को मान लेता कि परिस्थित-परिवर्तन की अपेक्षा परिस्थिति के सदुपयोग का बड़ा महत्व है, तो हर भाई के जीवन में, हर बहिन के जीवन में एक उत्साह जगता, एक चेतना आती। और अपने पर भरो सा आता कि अरे! हम भी उसी जीवन को पा सकते हैं जो जीवन कभी भी, किसी भी महा-मानव को मिला है! यदि चेतना आ जाती। और जिसकी प्राप्ति में विकल्प नहीं रहता, सन्देह नहीं रहता, उसकी मांग तीव्र हो जाती है। तो हम सबमें अपने लक्ष्य की माँग तीव्र हो जाती है। और जब माँग तीव्र हो जाती है तो काम का नाश हो जाता है। और काम का नाश होते ही माँग पूरी हो जाती है।

इस दृष्टि से अगर विचार किया जाय तो हमें वह जीवन मिल सकता है जिस जीवन में अभाव नहीं है, अशान्ति नहीं है,

नीरसता नहीं है, पराधीनता नहीं है। वह जीवन हम सबको मिल सकता है। क्यों ? क्योंकि हम मानव हैं। मानव होने से क्या विशेषता है ? कि मानव होने का अर्थ यह है कि हमें ज्ञान का प्रकाश मिला है, हमें विश्वास का तत्व मिला है, हमें बल का तत्व मिला है। तो जो बल का तत्व मिला है, वह तो निर्बलों की सेवा के लिए मिला है। सेवा में यह बात नहीं है कि जिसके पास विशेष सामर्थ्य होगी उसकी सेवा का विशेष फल होगा और अल्प सामर्थ्य से जो सेवा की जायगी उसका अल्प होगा। ऐसा नहीं है। सेवा का फल समान होता है, चाहे आप किसी तृषावन्त को अपनी सामर्थ्य के अनुसार एक गिलास पानी पिला दो, चाहे भाई, सम्पत्तिशाली होकर वाटर-वर्क्स बना दो। चाहे किसी गरीब, साधारण से विद्यार्थी की साधारण सी सेवा कर दो, चाहे बहुत बड़ा विश्वविद्यालय खोल दो। इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। सेवा का अर्थ ही यह है कि सेवक का हृदय सुखासक्ति से रहित होकर स्वाधीन हो जाता है। सुख की आसक्ति उसमें नहीं रहती है। सेवा में फल की भी आसक्ति नहीं रहती। सेवा का फल, सच पूछिये, तो स्वभाव से होने वाला त्याग और प्रेम है। अगर आपके जीवन में सेवा है तो आपको त्याग और प्रेम मिलेगा। यह न सोच लिया जाय कि एक आदमी जो गद्दी पर बैठा हुआ सेवा का कार्य कर रहा है, दूसरों को आज्ञा दे रहा है-ऐसा करो, उसकी बड़ी सेवा है और जो आज्ञा मान रहा है उसकी सेवा छोटी है। ऐसा भ्रम नहीं पालना चाहिए। मामूली से चौकीदार की जो सेवा है उसका जो फल बनेगा, प्राइममिनिस्टर की सेवा का भी वही फल बनेगा। एक साधारण ही स्थिति के आदमी का जो फल बनेगा, एक असाधारण स्थिति के आदमी का भी वही फल बनेगा। क्योंकि सेवा में

सेवक को कुछ लेने की बात नहीं होती। जो अपने पास है, उसके देने की बात होती है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि हम लोग आज इस वास्तविकता पर परस्पर विचार करने को राजी हैं? सुनने को तो राजी हैं ही। रोज सुनते ही हैं। आप सुनने तो आते ही हैं। लेकिन विचार करने को भी राजी हैं? कि भाई! हमारा शरीर कमजोर हो गया है तो क्या! धन का अभाव हो गया तो क्या! हमें वह जीवन अवश्य मिल सकता है, जो वस्तु-व्यक्ति-अवस्था-परिस्थिति के अधीन नहीं है। इस तरह से अगर हम सजग हो जाएं, सावधान हो जाएं तो यह भी साधक के जीवन की एक बड़ी भारी बाधा है कि जब देखो तब-कुटिया अच्छी मिल जाय तो भजन बनेगा, आसन ठीक है तो भजन बनेगा, भिक्षा ठीक मिल जाय तो भजन बनेगा-यह बिल्कुल भ्रम है। क्योंकि जिनको ठीक मिल गया है उनका भजन बना है क्या? अरे भजन कब बनेगा? जब हम अपने सेव्य को जिसका कि हमें भजन करना है, उसमें अपनी आत्मीयता स्वीकार करेंगे, तब भजन बनेगा। अचाह होंगे तब भजन बनेगा। स्वाधीन होंगे तब भजन बनेगा। क्या वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से ही भजन बनेगा? सो तो नहीं बनता भाई! स्वाधीन होने से भजन बनता है, अचाह होने से भजन बनता है, प्रेमी होने से भजन बनता है। और प्रेम किसी परिस्थिति से तो उत्पन्न होता नहीं। प्रेम तो मनुष्य की अपनी व्यक्तिगत माँग है। क्या आप नहीं जानते हैं कि अपने प्रेमी के प्रति आपको स्वभावतः आकर्षण होता है? अपने-अपने प्रेमियों के प्रति लोगों को आकर्षण होता है कि नहीं? और जो सभी का प्रेमी हो, विश्व का

भी और विश्वनाथ का भी, तो उसके प्रति सभी का आकर्षण नहीं होगा ! क्या आप और हम इस बात में पराधीन हैं कि हम सभी को प्यार-भरी दृष्टि से देखें, प्यार-भरी वाणी से बोलें, प्यार-भरे कानों से सुनें । इसमें पराधीन तो हैं नहीं । देखिये, प्रेमी सबको प्रिय होते हैं । ऐसे ही आप देखेंगे कि जो स्वाधीन होता है, जो अचाह होता है वह भी सबको प्रिय होता है । ऐसे ही जो उदार होता है वह भी सभी को प्रिय होता है ।

उदारता, स्वाधीनता और प्रेम यह मनुष्य के मौलिक तत्व हैं, इनकी प्राप्ति किसी परिस्थिति पर निर्भर है क्या? क्या राय है ?

श्रोता–नहीं है ।

तो फिर हमें जो जीवन का सबसे अच्छा चित्र है, जो जीवन का सर्वोत्कृष्ट चित्र है. कि हम उदार होकर सर्वप्रिय हों, हम स्वाधीन होकर सर्वप्रिय हों, हम प्रेम से भरपूर होकर सर्व प्रिय हों-यह पसन्द आना चाहिए । यह जो जीवन का सत्य है क्या यह किसी परिस्थिति पर टिका हुआ है ? हम से भूल यह होती है कि हम परिस्थिति के सहारे से साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहते हैं । मैं यह नहीं कहता कि आप अपनी सुखमय परिस्थिति को दुःखमय बना दें । यह मेरा तात्पर्य नहीं है । मेरे कहने का भाव है कि परिस्थिति आपकी चाहे जैसी हो, लेकिन उसके–अर्थ दो ही होंगे–या तो आप किसी अंश में अपने को सुखी अनुभव करेंगे अथवा किसी अंश में दुःखी अनुभव करेंगे । सुखमय परिस्थिति में आपको क्रियात्मक सेवा करनी चाहिए और दुःखमय परिस्थिति में आपको भावात्मक सेवा करनी

चाहिए। क्रियात्मक सेवा का जो फल होता है, भावात्मक सेवा का भी वही फल होता है। लेकिन आप सोचें कि सुखमय परिस्थिति होगी तो हम बहुत सा दान करेंगे, बहुत सा काम करेंगे, उससे हमें बड़ा लाभ होगा। तो बड़ा लाभ नहीं होगा। लाभ उतना ही होगा जितना अल्प से होगा। अल्प सामर्थ्य के सदुपयोग से जो लाभ होता है विशेष सामर्थ्य के सदुपयोग से वही लाभ होता है। अल्प योग्यता के सदुपयोग से जो लाभ होता है, विशेष योग्यता के सदुपयोग से वही लाभ होता है। आज मनुष्य सामर्थ्य योग्यता और वस्तुओं में जो फंस गया है, उनके अधीन हो गया है, उससे ऊपर उठने में ही उसका परम लाभ है। बहुत सी वस्तुएं होने से मनुष्य वस्तु से ऊपर नहीं उठेगा, वस्तु के सदुपयोग से उठेगा।

ऐसा तो आपने कोई देखा ही नहीं होगा दुनिया में कि जो सही अर्थ में कुछ न जानता हो, कुछ न मानता हो और कुछ न करता हो। देखा है क्या ? कुछ जरूर कर सकता है, कुछ जरूर करता है कुछ जरूर जानता है, कुछ जरूर मानता है। ये जो तीन प्रकार की शक्तियां हैं ये आंशिक रूप में हों, कम हों तो क्या और विशेष रूप में हों तो क्या ? हमसे गलती यह होती है कि हम सोचते हैं कि ये शक्तियाँ विशेष हों तो बहुत लाभ होगा। यह झूठा भ्रम है। और जब तक यह झूठा भ्रम नहीं निकलेगा तब तक यह कहना कि परमात्मा सभी का है, सभी को मिल सकता है, यह सिद्ध नहीं होगा। चिर-शान्ति सभी को मिल सकती है, जीवन-मुक्ति सभी को मिल सकती है, धर्मात्मा सभी हो सकते हैं—यह कह नहीं सकते तब तक आप। अगर आप परिस्थिति के आश्रित यह चीजें मानेंगे, तो सब धर्मात्मा भी

नहीं हो सकते, सब जीवन-मुक्त नहीं हो सकते, सब भगवद्-भक्त भी नहीं हो सकते। और अगर आप परिस्थिति के आश्रित नहीं मानेंगे तो जो सत्य किसी परिस्थिति के आश्रित नहीं होता, वह सत्य सभी परिस्थितियों में प्राप्त होता है। अर्थात् प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से प्राप्त होता है। और कोई न कोई परिस्थिति तो हम सबको प्राप्त है ही। क्या राय है? किसी न किसी प्रकार की परिस्थिति हम सबको प्राप्त है कि नहीं!

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि साधक के जीवन की यह बहुत बड़ी बाधा है कि वह अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करता रहता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता। क्योंकि शक्ति तो सीमित है। जो शक्ति आपको मिली है उसे यदि आपने अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में खो दिया। जो समय मिला है उसे यदि आपने इसी प्रकार व्यर्थ खो दिया तो समय घटेगा कि बढ़ेगा? क्या राय है?

श्रोता-घटेगा।

इसलिए अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में जो हम समय लगा देते हैं, जो हम शक्ति लगा देते हैं वही समय, वही शक्ति यदि हम प्राप्त के सदुपयोग में लगा दें तो हम सबको वह जीवन जो परिस्थितियों से अतीत है, विलक्षण है, यानी जो परिस्थितियों की सीमा में आबद्ध नहीं है वह जीवन हमें उसी शक्ति के सदु-पयोग से मिल जाय जो शक्ति हम को आपको प्राप्त है। लेकिन हमसे बड़ी भारी गलती यही होती है कि हम प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करते; और परिस्थिति के आश्रित होकर या

तो सुख की दासता में बँध जाते हैं अथवा दुःख के भय में आबद्ध हो जाते हैं। और सुख की दासता में बँधा रहना अथवा दुःख के भय में आबद्ध हो जाना–यह मानव जीवन का बहुत बड़ा अनादर है, बहुत बड़ा अपमान है। ठीक है, सुख है यदि तो उसको हम दुःखियों में बाँट देंगे और दुःख है तो त्याग को अपनाकर उससे ऊपर उठ जायेंगे। पर हमें सुख की दासता ओर दुःख के भय में आबद्ध नहीं होना चाहिए। दुःख के प्रभाव को अपनाना चाहिए और सुख का सदुपयोग करना चाहिए। आज हमसे गलती यह होती है कि हम दुःख के प्रभाव को नहीं अपनाते,सुख का सदुपयोग नहीं करते। नतीजा यह होता है कि किसी-न-किसी अंश में हम सुख की दासता ओर दुःख के भय में आबद्ध रहते हैं। जब तक हम सुख की दासता और दुःख के भय में आबद्ध रहेंगे तब तक आप सोचिये तो सही, वह जीवन जो सुख-दुःख से अतीत है, वह जीवन जिसमें किसी प्रकार की दासता और भय का प्रवेश ही नही है, कैसे मिलेगा ?

तो क्या सिद्ध हुआ कि हमें सुख-दुःख का सदुपयोग करना चाहिए। अब देखिये शब्द बदल गया, अर्थ वही रहा। परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए; यानी सुख-दुःख का सदुपयोग करना चाहिए। सुख-दुःख दोनों ही साधन-सामग्री हैं; यानी जब अनुकूलता और प्रतिकूलता दानों ही परिस्थितियां साधन-सामग्री हैं तबहमें इस बात की क्यों चिन्ता करनी चाहिए कि हमको प्रतिकूल परिस्थिति क्यों दे दी है, अनुकूल क्यों नहीं दी गई।

यह चिन्ता तभी तक होती है साधक के जीवन में, जब तक साधक वास्तविक जीवन की आवश्यकता ही अनुभव नहीं

करता। जब तक वह सुख की दासता में फँसा हुआ है, तभी तक वह दुःख से भयभीत है। अगर वह सुख की दासता में न फँसे तो दुःख से भयभीत होने की आवश्यकता ही नहीं है। अतः हमारी परिस्थिति चाहे जैसी क्यों न हो, हमें धीरज पूर्वक, उत्साह पूर्वक दृढ़ता पूर्वक सत्य का आश्रय लेकर, प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए। एक बार हमने पण्डित जवाहरलाल नेहरू के किसी निकटवर्ती महानुभाव से एक बात सुनी। उन्होंने पूछा–"जवाहर भाई! (कश्मीर के थे वे सज्जन) जब आपके सामने कोई विपत्ति आती है जैसे पिता की मृत्यु, पत्नी की मृत्यु, माता की मृत्यु, तो आप आत्मा-परमात्मा को तो मानते नहीं हैं, तब क्या उपाय सोचते हैं ?" तो भाई जवाहर लाल जी ने बड़ा अच्छा उत्तर दिया। उन्होंने कहा, "भाई देखो, जब मेरे सामने जैसी कठिनाई आती है, उसमें जो राह मुझे दिखाई देती है, मैं उस पर चल देता हूँ।" यह उत्तर उन्होंने दिया।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि आप परिस्थितियों के फेर में न पड़ें। प्राप्त परिस्थिति के अनुसार सुख-दुःख का दुरुपयोग न करें। दुःख का दुरुपयोग है उसके भय में आबद्ध हो जाना। सुख का दुरुपयोग है उसकी दासता में आबद्ध हो जाना। तो आप सुख-दुःख का सदुपयोग करें। अनुकूलता प्रतिकूलता का सदुपयोग करें। भाई! परिस्थिति तो आयेगी ही, परिस्थिति न आये ऐसी बात नहीं हैं। कभी अनुकूल आयेगी, कभी प्रतिकूल आयेगी। लेकिन उसका सदुपयोग करना चाहिए।

परिस्थिति के सदुपयोग से परिस्थिति से अतीत जीवन मिलता है। इस बात में किसी भाई को, किसी बहन को कोई

विकल्प हो तो प्रश्न करो। और परिस्थिति से जीवन मिलता है तो समझाओ हमको कि जीवन क्या तत्व है तुम्हारा। वह कौन सा तत्व है जो परिस्थिति से मिलता है। कोई बताये, समझाये, बोलो! आप लोगों ने तो सुनने का शौक पैदा किया है। हाँ अकेले-अकेले सब बोलना चाहते हैं, सब बात करना चाहते हैं, पर बैठ करके जीवन-उपयोगी विचार-विनिमय में आप सब लोग घबराते हैं। यह गलत तरीका है। मानव सेवा संघ कोई प्रोपेगंडा नही है। मानव सेवा संघ तो साधकों का संघ है। अतः साधक–समुदाय को परस्पर में विचार-विनिमय जरूर करना चाहिए। क्योंकि विचार-विनिमय करने से आपका सत्य आपके सामने आ जायगा। हमसे गलती क्या होती है कि हम अपने सत्य को अपने सामने न रख कर, अपने सत्य से दूसरों को समझाना चाहते हैं। यहीं आप असफल होते हैं। हमें अपने सत्य को स्वयं अपनाना चाहिए। जैसे-जैसे हम अपने सत्य को अपनाते चले जायेंगे वैसे-वैसे हमारा विकास भी होता जायगा, वैसे-वैसे समाज को एक उदाहरण देखने को मिलेगा, समझने और सोचने को मिलेगा, जिससे दूसरों में उत्साह पैदा होगा। तो सबसे बड़ा उपदेशक कौन है? **जो जीवन से उपदेश करता है।** वह सबसे बड़ा वक्ता है, सबसे बड़ा पण्डित है सबसे बड़ा सुधारवादी है। और सबसे घटिया कौन है? जो परचर्चा करके उपदेश करता है। कभी व्यक्तियों की चर्चा, कभी परिस्थितियों की चर्चा कि इस परिस्थिति में ऐसा हो जायगा, इसमें ऐसा हो जायगा। यह सब गलत है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि इन बातों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए हर भाई को, हर बहिन को।

एक सत्य आपके सामने रखा गया कि भाई! साधक के लिए क्या उपयोगी है? प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग। क्या बाधक है? अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन, उनका आवाहन। अब थोड़ी देर के लिए गौर करें आप गम्भीरता से कि अगर आप अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन छोड़ दें और प्राप्त का सदुपयोग करें तो आपको विश्राम मिलेगा कि नहीं!

श्रोता–अवश्य मिलेगा।

अब देखिये, आप स्वयं ही कह रहे हैं, यह आप ही का सत्य है कि विश्राम मिलेगा और जब विश्राम की प्राप्ति होती है तब योग की भी प्राप्ति होती है, बोध की भी प्राप्ति होती है, प्रेम की भी प्राप्ति होती है।

––:०:––

१
(अ)

मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली में साधकों को यह परामर्श दिया जाता है कि अपने द्वारा अपने साथ व्यक्तिगत सत्संग करो। इससे अपने को पता चल जाता है कि अपनी दृष्टि में साधक उदार, स्वाधीन और प्रेमी है कि नहीं।

उदारता, स्वाधीनता और प्रेम की मांग मानव मात्र की है। अनुदारता, पराधीनता और नीरसता की उत्पत्ति मनुष्य की सुख लोलुपता के कारण होती है। इस दृष्टि से साधक मात्र के लिए सुख-लोलुपता का त्याग अनिवार्य है जो सत्संग से साध्य है। उदारता, स्वाधीनता और प्रेम से पूर्ण जो सर्वश्रेष्ठ जीवन है उसकी प्राप्ति में मानव मात्र समान रूप से स्वाधीन एवम् समर्थ है।

—०:०—

प्रवचन :

जीवन का सत्य क्या है, इस सम्बन्ध में विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि जो हमारे अपने ज्ञान से और आस्था से सिद्ध है, वही सत्य है। अब सोचने की बात है कि आस्था से क्या सिद्ध है और ज्ञान से क्या सिद्ध है? ज्ञान से यह बात सिद्ध है कि हम किसी भी उपाय से मिले हुए शरीर के साथ सदैव नहीं रह सकते और न शरीर ही हमारे साथ रह सकता है। और आस्था से क्या सिद्ध है? कि उत्पत्ति का आधार और प्रतीति का प्रकाशक जो है वह सभी का अपना है। यानी उत्पत्ति का आधार और प्रतीति का प्रकाशक है, इस बात को स्वीकार करना, यह आस्था से सिद्ध है। आस्था उसी में होती है जिसे हमने गुरुवाणी से, वेदवाणी से सुना तो हो, परन्तु इन्द्रिय-दृष्टि और बुद्धि-दृष्टि से देखा न हो। उसमें आस्था होती है। वही आस्था का विषय है।

अब आप सोचिए, किसी भाई ने, किसी बहन ने इस सृष्टि की उत्पत्ति के आधार को देखा है क्या? प्रतीति के प्रकाशक को देखा है क्या? देखा तो नहीं है। लेकिन कोई भाई, कोई बहन यह कह सकते हैं क्या कि उत्पत्ति बिना आधार के और प्रतीति बिना प्रकाशक के होती है? बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक यह बात नहीं सिद्ध कर सकता कि उत्पत्ति बिना आधार के और प्रतीति बिना प्रकाशक के हो सकती है। समस्त उत्पत्ति के मूल में एक अनुत्पन्न हुआ तत्व होता है प्रतीति का कोई प्रकाशक होता है। अगर आप उस अगोचर को स्वीकार कर लेते हैं,

अर्थात् यह मान लेते हैं कि "है", तो इसका नाम आस्था है। और उसकी महिमा स्वीकार कर लेते हैं तो इसका नाम श्रद्धा है। आस्था और श्रद्धा से विकल्प-रहित विश्वास उदित होता है। विश्वास से आत्मीय सम्बन्ध सजीव होता है और आत्मीय सम्बन्ध से अखण्ड-स्मृति तथा अगाध-प्रियता उदित होती हैं। स्मृति और प्रियता ही जीवन है। कारण कि जब कभी हम इस वास्तविकता को भूल जाते हैं कि हमारी प्रियता का आश्रय है, तब नीरसता उत्पन्न होती है और नीरसता से अनेक प्रकार के विकारों का जन्म हो जाता है। इसी बात को लेकर किसी ने संकेत किया कि स्मृति में जीवन है, प्रियता में जीवन है, विस्मृति में मृत्यु है। ऐसा संकेत दिया।

मैं यह नहीं कहता हूँ कि मेरे कहने से आप इस बात को मान लीजिए। यह तो आपकी अपनी मौज है। लेकिन अगर आप बिना देखे, बिना समझ में आये हुए को मान नहीं सकते, तो फिर जो जानते हैं सो मान लीजिए। या तो उस सत्य को स्वीकार कीजिए जो ज्ञान से सिद्ध है अथवा उस सत्य को स्वीकार कीजिए जो आस्था–श्रद्धा-विश्वास से साध्य है। आस्था-श्रद्धा-विश्वास से साध्य है, सिद्ध नहीं; यानी प्राप्त होता है और ज्ञान से सिद्ध है। क्या सिद्ध है? कि कभी भी कोई भी मेरा बुरा न चाहे, मेरे प्रति सभी का सद्भाव तथा सहयोग रहे। क्या यह बात हम और आप अपने द्वारा, अपने लिए अनुभव नहीं करते कि मेरे प्रति सभी का सद्भाव और सहयोग रहे। तो इससे क्या यह स्पष्ट नहीं हो जाता है कि भाई, मेरे प्रति सभी का सहयोग, सद्भाव रहे अथवा न रहे परन्तु मैं सभी के प्रति सद्भाव और यथाशक्ति सहयोग रखूँगा। जो मानव अर्थात् भाई

और बहन सभी के प्रति सद्भाव और सहयोग रखते हैं, वे धर्मात्मा कहलाते हैं। यही धर्म-विज्ञान है कि हमारे व्यक्तित्व में सभी के प्रति सद्भाव हो, यथाशक्ति सहयोग हो। तो जो धर्मात्मा होता है, सृष्टि उसकी आवश्यकता अनुभव करती है अथवा उसकी सभी आवश्यकता अनुभव करते हैं। धर्मात्मा पुरुष की सभी आवश्यकता अनुभव करते हैं। चाहे वह किसी वर्ण का हो, आश्रम का हो, वर्ग का हो, देश का हो। किसी परिस्थिति का हो, कितनी ही अल्प शक्ति वाला हो अथवा कितनी ही विशेष सामर्थ्य वाला हो। जो धर्मात्मा होता है उसकी सभी आवश्यकता अनुभव करते हैं। उस धर्मात्मा को एक बड़ी अलौकिक शक्ति प्राप्त होती है। और वह यह होती है कि अपने लिए वह सृष्टि की आवश्यकता अनुभव नहीं करता।

जरा गम्भीरता से विचार किया जाय। अगर हमारा–आपका व्यक्तिगत जीवन इतना सुन्दर हो जाय कि उसकी सभी आवश्यकता अनुभव करें और हम किसी की आवश्यकता अनुभव न करें, तो ऐसा जीवन आपको कैसा मालूम होता है? ऐसा जीवन बहुत बढ़िया मालूम होता है कि हम किसी की आवश्यकता अनुभव न करें, अपितु हमारी सभी आवश्यकता अनुभव करें। ऐसा जीवन कहलाता है–उदार जीवन, स्वाधीन जीवन। जो उदार और स्वाधीन हो जाता है, उसमें स्वतः प्रेम तत्व की अभिव्यक्ति होती है। और यह जो मनुष्य का चित्र है–उदारता, स्वाधीनता और प्रेम–यही मानव का वास्तविक चित्र है। यही उसका अपना निजी स्वरूप है। उदारता भी एक अविनाशी तत्व है, स्वाधीनता भी एक अविनाशी तत्व है और प्रेम भी एक अविनाशी तत्व है। इस दृष्टि से मानव एक अविनाशी तत्व

है। अच्छा, आपने गुरुवाणी, वेदवाणी से सुना होगा कि परमात्मा भी परम उदार है, परम स्वतन्त्र है, परम प्रेम के भण्डार हैं। और मानव का स्वरूप ही है–उदारता, स्वाधीनता और प्रेम। इससे क्या सिद्ध होता है कि मानव की प्रभु से, सुने हुए परमात्मा से जातीय एकता है, नित्य सम्बन्ध है, आत्मीय सम्बन्ध है। अगर हम इस सत्य को स्वीकार कर लेते हैं कि भक्तों के भगवान से हमारी जातीय एकता है, हमारा नित्य सम्बन्ध है, हमारा आत्मीय सम्बन्ध है, तो हमें और आपको एक ऐसा अलौकिक जीवन प्राप्त होता है कि जिस जीवन में किसी प्रकार का अभाव, पराधीनता, अशान्ति और नीरसता नहीं है। आप सोचिये, ऐसा जीवन मानव-मात्र को मिल सकता है, तो फिर क्या आज हम मानव होने के नाते ऐसे अनुपम, अलौकिक, रस-रूप जीवन की आवश्यकता अनुभव न करें। क्या राय है? अब आवश्यकता अनुभव करने में भी कोई पराधीनता है क्या? कोई असमर्थ है क्या? सबको मानना होगा निर्विवाद रूप से कि भाई, आवश्यकता पूरी होगी या न होगी इसको हम भले ही न जाने, न माने, लेकिन आवश्यकता अनुभव करने में हम पराधीन नहीं है, असमर्थ नहीं हैं।

अब यहाँ बड़ी गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि जब हम अपनी इस आवश्यकता को अनुभव करते हैं, तब क्या हमारे जीवन में भोग की रुचि रहती है?

श्रोता–नहीं रहती।

और जब भोग की रुचि नहीं रहती तो क्या स्वभाव से योग की प्राप्ति नहीं हो सकती? अब आप सोचिये, कि वास्तविक जीवन की आवश्यकता का अनुभव करने मात्र से भोग

की रुचि का नाश होता है और भोग की रुचि के नाश से स्वतः योग प्राप्त होता है। आपने अपने जीवन में देखा होगा कि भोग की रुचि रहते हुए मोह और आसक्ति की निवृत्ति होती है क्या ?

श्रोता–नहीं।

और मोह और आसक्ति रहते हुए किसी प्रकार से चैन मिलता है क्या ?

श्रोता–नहीं मिलता।

जिस प्रकार भोग की रुचि रहते हुए हम मोह और आसक्ति में आबद्ध हो ही जाते हैं उसी प्रकार जीवन का यह निर्विवाद सत्य है कि योग की प्राप्ति होने पर हमें बोध और प्रेम मिल ही जाता है। योग की प्राप्ति होने पर हम सभी को बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है। इस प्रकार योग की प्राप्ति हुई भोग की रुचि के नाश से। पढ़े-लिखों की भाषा में कहदो –भोग–वासना के नाश से।

आप बड़े-से-बड़े विचारक से अपना विचार-विनिमय कीजिए,कोई भी दुनिया का विचारक चाहे आधुनिक हो अथवा प्राचीन, वासना के नाश से शान्ति मिलती है–वासना के नाश से दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति होती है–वासना के नाश से पराधीनता मिटती है–इस बात को स्वीकार करने में कभी भी किसी को कोई आपत्ति नहीं है। अगर आप लोगों में किसी को हो तो प्रश्न कीजिए। तो यह बात साबित हो गई कि निर्वासना जीवन का बड़ा ही मौलिक तत्व है और उसकी प्राप्ति में हम

सब स्वाधीन हैं। केवल योग की मांग से ही भोग की वासना कहो, रुचि कहो, का नाश होता है। जिस प्रकार अग्नि काष्ठ को भस्मीभूत करके स्वयं बुझ जाती है, उसी प्रकार योग की मांग भोग वासना का अन्त कर स्वतः शान्त हो जाती है। यह जीवन का सत्य है। इस बात को स्वीकार करना हर भाई के लिए, हर बहिन के लिए अनिवार्य है। क्योंकि जीवन का सत्य जो होता है वह किसी परिस्थिति-विशेष के लिए नहीं होता कि अमुक परिस्थिति में हम इस सत्य को स्वीकार करेंगे। वह तो हर परिस्थिति में स्वीकार किया जा सकता है। तो भाई! योग की माँग से हम सबका सर्वतोमुखी विकास होता है और माँग अनुभव करने की स्वाधीनता है–अथवा धर्मात्मा होने की स्वाधीनता है। धर्मात्मा होने से भी हम भोग की रुचि से रहित होते हैं। योग की मांग से भी हम भोग की रुचि से रहित होते हैं। और श्रद्धा-विश्वास पूर्वक, शरणागति से भी हम भोग की रुचि से रहित होते हैं। इस प्रकार हमारे सामने तीन बातें आती हैं (१) धर्मात्मा होकर हम योग को प्राप्त करें (२) वास्तविक आवश्यकता अनुभव कर योग को प्राप्त करें तथा (३) शरणागत होकर योग को प्राप्त करें। और ये तीनों प्रकार की शक्तियाँ आप में मौजूद हैं। आपको जो करना चाहिए उसे कर भी सकते हैं। आप विचार पूर्वक अचाह भी हो सकते हैं। आप श्रद्धा-विश्वास पूर्वक शरणागत भी हो सकते हैं। तो कर्तव्य परायणता से, असंगता से, आत्मीयता से हमसबको वही जीवन मिल सकता है, जो जीवन कभी भी किसी भी महामानव को मिला है अथवा मिलेगा।

तीन बातें हैं–(१) कर्तव्य-परायणता (२) असंगता और

(३)आत्मीयता । अब इन तीनों बातों की अभिव्यक्ति कैसे होगी जीवन में ? अगर आप शरीर की भाँति सभी को अपना मान लें तो कर्तव्य-परायणता आ जायेगी, क्योंकि अपने शरीर की सुरक्षा का, हित का ध्यान सबको रहता है । तो कर्तव्यनिष्ठ कौन होता है ? जिसके जीवन में सभी की सुरक्षा और हित का ध्यान हो वह कर्तव्यनिष्ठ कहलाता है । तो शरीर की भाँति सृष्टि को अपना मान लें, यह जानते हुए कि शरीर कभी भी सृष्टि से अलग नहीं हो सकता । और हम कभी भी शरीर और सृष्टि के साथ सदैव नहीं रह सकते । भटकते भले ही रहें, पर रह नहीं सकते । इस सत्य को जानते हुए क्या हम शरीर की भाँति सभी को अपना नहीं मान सकते ? यदि मानना चाहें तो मान सकते हैं । और सभी की भाँति, जैसे हम सभी से असंग रहते है वैसे शरीर से असंग नहीं हो सकते क्या ?

श्रोता–हो सकते हैं ।

सभी की भाँति शरीर से असंग हो सकते हैं, शरीर की भाँति सभी को अपना मान सकते हैं । इसमें हम सबको स्वाधीनता है, किसी को भी पराधीनता नहीं है । तो सभी की भाँति शरीर से असंग होने पर भी योग की प्राप्ति होती है और शरीर की भाँति सभी को अपना मानने पर भी, कर्तव्य-परायणता के द्वारा भी योग की प्राप्ति होती है । उसी प्रकार अगर हम सर्व-समर्थ प्रभु को अपना मान कर उसके शरणागत हो जायं, तब भी योग की प्राप्ति होती है । तात्पर्य क्या निकला ? सभी को अपना मानो तो योग प्राप्त हो जाय, किसी को अपना न मानो तो योग प्राप्त हो जाय और प्रभु को अपना मानो तो योग

प्राप्त हो जाय। अब इस मान्यता के अपनाने में आप लोगों को क्या कठिनाई मालूम होती है ?

श्रोता–कोई कठिनाई नहीं है।

श्री महाराज जी–कठिनाई तो है नहीं। अच्छा कठिनाई नहीं है तो क्या यह वर्तमान का प्रश्न नहीं है कि हम शरीर की भाँति सभी को अपना मानें अथवा सभी की भाँति शरीर को अपना न मानें अथवा प्यारे प्रभु को अपना मानें। क्या रायहै? इसी को जीवन का सत्य कहते हैं।

साधक के जीवन की समस्याओं पर विचार करने से ऐसा लगता है कि नीरसता हमें व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध करती है। जब जीवन में रस नहीं रहता, तब हम आगे-पीछे के चिन्तन में फंसते हैं और नीरसता का नाश कामना-पूर्ति के सुख से नहीं होता। इस सम्बन्ध में किसी को कोई प्रश्न करना हो तो कर सकते हैं। कामना-पूर्ति का कितना ही सुख मिले, परन्तु नीरसता का नाश नहीं होगा। उसका कारण यह है कि सभी कामनायें पूरी नहीं होतीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि नीरसता साधक के जीवन में बहुत बड़ी बाधा है। यह बाधा कैसे दूर हो ? जब रस की प्राप्ति हो। और रस की जो उपलब्धि होती है, वह एक मात्र उदारता, स्वाधोनता और प्रेम से होती है। कामना-पूर्ति औरअपूर्ति से सुख-दुःख तो मिलता है, पर रस की प्राप्ति नहीं होती।

उदारता में रस है, स्वाधीनता में रस है, प्रियता में रस है। अब उदारता किसी परिस्थिति का नाम है क्या ? या किसी

वस्तु का नाम है ? मानवीय स्वभाव है कि ईश्वरीय स्वभाव है ? बोलो !

श्रोता–वस्तु तो नहीं है, स्वभाव है।

महाराज जी–वस्तु नहीं है न ! मानवीय स्वभाव हो सकता है, ईश्वरीय स्वभाव हो सकता है। क्योंकि मानव जो है वह जगत की जाति का नहीं है। शरीर जगत की जाति का है। मानव शरीर का नाम नहीं है। वैसे तो हमने किसी विद्वान पुरुष के मुख से सुना है–मा माने नहीं, नव माने नया। जो नया न हो, यानी जो सनातन हो। और जो सनातन होगा वह अविनाशी भी होगा यह भी शब्द मानव का है। मानव शब्द का अर्थ यह भी है कि मानव सनातन होगा तो अविनाशी भी होगा।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था आप महानुभावों से कि मानवीय स्वभाव है उदारता, स्वाधीनता और प्रेम। और विचार करके देखा जाय तो परमात्मा की महिमा में भी ये तीन बातें बताई जाती हैं–परमात्मा परम उदार हैं, परम स्वतन्त्र हैं, परम प्रेम के भण्डार हैं-ऐसा भी कहा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मानव परमात्मा की जाति का है, संसार की जाति का नहीं है। और परमात्मा से ही उसका नित्य सम्बन्ध है। और परमात्मा ही उसका अपना है। अगर यह बात आप महानुभावों को जंच जाय, रुच जाय, पसन्द आ जाय कि भाई, मैं तो परमात्मा की जाति का हूँ, उसी से मेरा नित्य सम्बन्ध है, वही मेरा अपना है तो जीवन की नीरसता का नाश हो जाय। और नीरसता का नाश हो जाय तो काम का नाश हो जाय और काम

का नाश हो जाय तो परमात्मा प्राप्त हो जाय। यह जीवन का सत्य है। नीरसता अवश्य मिट जायगी। क्योंकि आत्मीयता की जागृति से प्रियता उदित हो जायगी। प्रियता के अभाव में नीरसता भासती है। इसके साथ-साथ एक बात और सोचिए कि नीरसता कहते किसको हैं। अगर हम अपनी भाषा के शब्द प्रयोग करें तो हमें मालूम होता है–अच्छा न लगना, ऊब जाना। तबियत का ऊब जाना। इस वर्ष कुम्भ के दिनों में बहुत से विदेशी लोग आये। साधु-वेश था उनका। तो मैंने उनसे यह पूछा कि आपकी प्रोब्लम (समस्या) हल हो गई। उन्होंने कहा--नो। यानि उनकी समस्या हल नहीं हुई। बेचारे साधु वेश में थे। मैंने पूछा तुम्हारी क्या समस्या है ? वे लोग बड़ी ईमानदारी से बात करते हैं। हम लोग बड़ी कचर-पचर बात करते हैं। उन्होंने कहा कि ध्यान से हमारा मन क्यों ऊबता है ? मैंने कहा कि ध्यान से मन इसलिए ऊबता है कि तुम "करते हो", "होता" नहीं ध्यान !

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि करने से मन ऊबता है कि नहीं। क्या राय है आप लोगों की ?

श्रोता–करने से ऊबता है।

महाराज जी-अच्छा, जब करने से मन ऊबता है, तो फिर न करने की स्थिति कैसे प्राप्त हो ? प्राप्त भी हो और प्रिय भी लगे। तो साफ मालूम होता है कि अगर हम स्वभाव से ज्ञान पूर्वक यह अनुभव करें कि हमें कैसा साथी चाहिए, तो आप क्या कहेंगे ? उदार चाहिए या अनुदार चाहिए ?

श्रोता-उदार।

उदार चाहिए, यही न कहेंगे ! और इस बात को आपने किसी से सीखा है, किसी ने आपको सिखाया है या आप स्वयं जानते हैं ? स्वयं जानते हैं कि हमको उदार साथी चाहिए । तो भाई, यह तो सम्भव है नहीं, कि हमारा साथी हमें उदार मिल जाये । पर एक बात तो सम्भव है कि हम अपने साथी के लिए उदार हो जायं । क्या राय है? हमारा साथी हमारे लिए उदार हो जाय, इसमें हम स्वाधीन हैं कि पराधीन ? हमारा साथी हमारे लिए उदार हो जाय, इसमें हम स्वाधीन हो सकते हैं क्या ?

श्रोता–नहीं हो सकते ।

लेकिन हम अपने साथी के लिए उदार हो जायं तो इसमें स्वाधीन हैं । अब विचार करो कि अपना साथी कौन है ? जिस परिवार में रहते हैं, जिस समाज में रहते है, जिस देश में रहते हैं, उसी हिसाब से सोचो । तो इसका मतलब यह हुआ कि हम दूसरों के लिए उदार हो जायं, क्योंकि हम दूसरों को अपने लिए उदार देखना चाहते हैं । उदार होने का अर्थ क्या है ? रुपया खर्च करना पड़ेगा ? बोले–नहीं । कोई शारीरिक परिश्रम करना होगा ? बोले–नहीं । उदारता हमें दो बातों की प्रेरणा देती है । अगर सुखी पर हमारी दृष्टि पड़े तो हम प्रसन्न हो जायं और दुःखी पर हमारी दृष्टि पड़े तो हम करुणित हो जायं । यानी उदारता का अर्थ है–करुणा और प्रसन्नता । करुणा से प्रेरित होकर हम अपना सुख बांटने लगते हैं और प्रसन्नता से नीरसता का नाश होता है, काम की उत्पत्ति नहीं होती । इसलिए करुणा भी रसरूप है और प्रसन्नता भी रसरूप

है। क्या राय है? करुणा में रस आता है कि नहीं और प्रसन्नता में भी रस आता है। इसलिए, हमें सुखियों को देखकर प्रसन्न होना चाहिए और दुःखियों को देखकर करुणित होना चाहिए। अब हम गलती क्या करते हैं–होते तो हैं–किसी का (अपना) लड़का पास हो जाय तो प्रसन्न होते हैं कि नहीं ?

श्रोता–जी !

लेकिन दूसरे के लड़के को देख कर ! अभी-अभी तुमको सुनने को मिल जाय कि पाकिस्तान में बड़ी आपत्ति आ गई तो तुमको अच्छा लगता है कि बुरा ? सोचो जरा! और यह मालूम हो जाय कि हिन्दुओं पर आपत्ति आई है तो ? बुरा लगता है। यानी जिसको अपना मानते हैं उसको देख कर तो आप करुणित भी होते हैं और प्रसन्न भी होते हैं। होते कि नहीं होते ?

श्रोता–होते हैं।

तो अगर आपको करुणा और प्रसन्नता को जीवन में रखना है तो किसी-न-किसी नाते सभी को अपना मानना पड़ेगा।

––:०:––

६
(ब)

प्रश्न उठता है कि जब अन्तर्निरीक्षण से ही यह सब काम बन जायेगा तो क्या गुरु और शास्त्र की आवश्यकता नहीं है ? गुरु और शास्त्र में श्रद्धा मनुष्य करता है अतः प्रधानता श्रद्धालु साधक की है ।

इसलिए मनुष्य अपनी दृष्टि से कैसा है, इस बात पर ध्यान अवश्य देना चाहिये । आप अपनी दृष्टि से अपने को उदार, स्वाधीन और प्रेमी नहीं पायेंगे तो स्वतः ही यह प्रश्न पैदा हो जायेगा कि इसका कारण क्या ह ? कारणों का पता लग जाने पर साधक में अपनी भूल के निवारण की भी सामर्थ्य आ जाती है । भूल की निवृत्ति में माँग की पूर्ति स्वतः सिद्ध है ।

—:o:—

प्रवचन :

अब इस सत्य को स्वीकार करने में आपको क्या आपत्ति मालूम होती है कि हम किसी-न-किसी नाते सभी को अपना मान लें, इस सत्य को स्वीकार करने में कोई आपत्ति मालूम होती है आपको ? कोई कठिनाई है ?

श्रोता-कोई कठिनाई नहीं है।

पर आप यह मानते हैं क्या ?

श्रोता—मानते तो हैं पर भूल जाते हैं।

मानते ही नहीं, नहीं तो दोस्त आठ दिन की कहके एक महीना में न लौटते। चिट्ठी भी नहीं दी, नहीं तो दो-चार तो चिट्ठियाँ आतीं हर महीने। कठिनाई तो लिखते ! क्यों ? वहाँ ममता का सम्बन्ध था, यहाँ कर्तव्य का सम्बन्ध था। तो ममता में आकर कर्तव्य भूल जाता है मनुष्य। बुरा मत मानना। आप कहते हैं कि मानते हैं, मगर नहीं मानते हैं। आठ दिन की कह कर महीना भर बाद आयें। इसका मतलब क्या है ? कि आप मन की आवाज पर चलते हैं, सिद्धान्त की आवाज पर चलते ही नहीं। इसलिए, सभी को जब तक अपना नहीं मानोगे, तब तक हृदय में उदारता कभी नहीं आयेगी। उदारता नहीं आयेगी तो करुणा क्यों आयेगी ? और करुणा नहीं आयेगी तो आप अपना सुख बाँटेंगे कैसे ? अगर आपके हृदय में करुणा जगती कि अरे भाई, संस्था की बड़ी क्षति हो रही है, यह तो

री साधना थी। यह तो मेरा जीवन था। यह तो भगवान का काम था। वहाँ तो मोह का काम है। आज मेरा शरीर नहीं रहेगा तब भी तो मेरा लड़का संभालेगा। लड़का अपनी पत्नी, माँ बच्चों को नहीं संभालेगा ?

श्रोता–जी ! संभालेगा ही।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि हमसे बड़ी भारी भूल हो जाती है कि ममता-युक्त उदारता तो हम में रहती है, लेकिन स्वभाव-जनित उदारता नहीं रहती है। तो क्यों नहीं रहती है? क्योंकि हम सभी को अपना नहीं मानते हैं। अब "सभी को अपना मानना"–हम चाहें कि हम आपके जीवन में पैदा कर दें तो यह हमारे बस की बात है कि आपके अपने करने की बात है? हम सभी को अपना मानें–यह अपने करने की बात है कि किसी और के बस की बात है ? दुनिया का कोई गुरु किसी को ऐसा इंजेक्शन लगा सकता है कि भाई तुम सभी को अपना मानो ? है ताकत किसी में ? किसी नेता में है ताकत ? किसी राष्ट्र में है ताकत ? क्या राय है ?

श्रोता–नहीं है ?

लेकिन अगर आप चाहें तो ? अगर आप चाहें तो हो सकते हैं, मान सकते हैं सभी को अपना कि नहीं ? अवश्य मान सकते हैं। तो मैं आप से यही निवेदन कर रहा था कि आपमें भगवान ने यह सामर्थ्य दी है। अगर आप विचार करें, तो पायेंगे कि दुनिया का बड़े-से-बड़ा गुरु, बड़े-से-बड़ा नेता, बड़े-से-बड़ा राष्ट्र जो काम नहीं कर सकता आपके साथ, अगर आप चाहें तो अपने साथ कर सकते हैं। मैं यह तो नहीं कहता हूँ कि सभी को अपना मानने का अर्थ है कि मुझे अपना मानिये और

अपनी सम्पत्ति मुझे दे दीजिये। ऐसा मेरा मत नहीं है। मैं तो कहता हूँ कि सभी को अपना मानेंगे तो हमको भी अपना मानेंगे, तो हमारे दुःख से आपको करुणा होगी कि नहीं ? होगी। अवश्य होगी। हमारे सुख से आपको प्रसन्नता होगी कि नहीं होगी ? अवश्य होगी। अब आप हमारा दुःख कितना मिटा पायेंगे? मिटा भी पायेंगे कि नहीं मिटा पायेंगे, यह तो आप जानो। लेकिन करुणा के रस से काम का नाश होगा कि नहीं ? भोग की रुचि का नाश होगा कि नहीं ? प्रसन्नता से कामनाओं का नाश होगा कि नहीं होगा ? अगर भोग की रुचि का नाश हो जाय, कामनाओं का नाश हो जाय तो किसको लाभ होगा ? तुमको कि मुझको ? बोलो ईमानदारी से !

आपको लाभ ज्यादा होगा। क्योंकि भोग की रुचि का नाश होने से योग की प्राप्ति होगी, काम का नाश होने से राम मिलता है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि मानव जीवन में जो नीरसता है, उसका और कोई कारण नहीं है। यही सबसे बड़ा कारण है कि हम सभी को अपना नहीं मानते और इसीलिए हममें उदारता नहीं आती। चूंकि उदारता नहीं आती अतः नीरसता नाश नहीं होती। अब यह किसी मजहब की बात है कि जीवन का सत्य है ?

श्रोता–यह जीवन का सत्य है।

यह जीवन का सत्य है कि अगर हम सभी को अपना

[ब]ात लें तो देखिये, सभी को अपना मान करके हमारा सुख [आ]पको हर्ष पैदा करेगा कि नहीं ?और आज की क्या दशा है? [आ]ज जिनके पास पूँजी अधिक है, जो पूँजी-पति हैं, उन्हें [श]ोषक वर्ग कहा जाता है। यानी जो सुखी हैं वे शोषक है, ऐसा [क]हते हैं। और सुखी कौन है? आप लोगों ने कोई सुखी देखा [है]?वे किसी अंश में सुखी हैं, तो किसी अंश में कौन सुखी नहीं [है]?मान लीजिए एक मिल-ओनर किसी अंश में सुखी है तो [क्]या एक मजदूर किसी अंश में सुखी नहीं है?मान लीजिए, [आ]प ट्रेन से उतरे हैं। आपके पास सामान है। आप सुखी हैं। [ले]किन उस सामान उठाने के अंश में कुली आप से ज्यादा सुखी [न]हीं है क्या ?

श्रोता–अवश्य है।

लेकिन वह आपको देख कर प्रसन्न होता है क्या ? आप उसे देख कर प्रसन्न होते हैं क्या ?बोलो !

श्रोता–नहीं होते।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में यह बात बताई गई है कि अगर आप अपने साधक-जीवन में नीरसता मिटाना चाहते हो और मानते हो कि यह एक समस्या है कि क्यों नीरसता है हमको ? तो भैया, उदार होना पड़ेगा। और उदार होने के लिए सभी को अपना मानना पड़ेगा। हमयह तो नहीं कहते कि बक्स कुली को दे आओ। लेकिन अपना मानकर प्रसन्न हो जाओ। और अगर जो देना चाहिए उससे आप चार आना भी ज्यादा दे देते हैं, कुली को हर्ष होगा या शोक होगा ? हर्ष ही होता है। और आपका

क्या बिगड़ता है ?

श्रोता–चार आना पैसे ज्यादा चले गये।

श्री महाराज जी–हाँ ठीक है। पैसे तो चले गये पर तुम्हें दे क्या गये ? सारी जिन्दगी में जो कमाया सो सब खा डाला तो तुम्हें क्या मिल गया ? सोचो जरा !

श्रोता–सोंचते तो हैं लेकिन ज्यादा देने में······

वह आपकी व्यक्तिगत बात है। वह कम्बखत आपको देख कर खुश नहीं होता है, आप उसे देख कर खुश नहीं होते। तुम उसे ठगना चाहते हो, वह तुम्हें लूटना चाहता है। विचार करके देखो भैया, यह कानून मैंने तुम्हारे लिए ही नहीं कहा। उसे भी तो आपको देखकर प्रसन्न होना चाहिए। और एक उसूल बनाना चाहिए रेलवे अथारिटी को कि इतने वजन पर इतना पैसा लगेगा। और वह छपा रहना चाहिए। तो यह तो दूसरों की गलती आप देख रहे हो। विचार करके देखो भैया, बिचार करके देखो। यह तो आप दूसरों की गलती देख रहे हैं। अगर वह आपको देखकर प्रसन्न हो जाय और यह उसूल है एक जमाना था कि एक मन वजन का चालीस पैसा लगता था अब शायद एक रुपया लेते हैं।

श्रोता–सत्तर पैसे लेते हैं।

अच्छा, अब सत्तर पैसे लिखा है और अगर सत्तर की जगह एक रुपया दे दें तो वह खुश हो जाय। बहुत खुश हो जाय। और अगर वह ७० पैसे ले ले तो आप खुश हो जायं। तो

मैं यह नम्र निवेदन कर रहा था कि अगर आप उसे अपना मानते होते तो०–७०की जगह १–००देना आपको खलता नहीं। और उसको ०–७० की जगह ०–६० लेना खलता नहीं। जब हम मथुरा स्टेशन पर उतरते थे, सर्वनाम सिंह एक पुलिस हैड-कान्टेबिल रहते थे वहाँ। तो वे आते और हमारा सामान उठा लेते। तो हमें दुःख होता था क्या ? प्रसन्नता होती थी।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा हूँ कि आप यदि चाहें सरकार ! तो उदार हो सकते हैं। आप न चाहें तो आपको कोई दूसरा उदार नहीं बना सकता। विवश नहीं कर सकता है। न विवश कर सकता है न कोई आपको किसी तरह से उदार ही बना सकता है। जैसे देखिए ! टैक्स बहुत बढ़ते चलते जा रहे हैं। अब लोगों के दिल में उदारता आती जा रही है या बेईमानी ?

श्रोता–बेईमानी।

यानी उधर टैक्स बढ़ते जा रहे हैं तो इधर बेईमानी आती जा रही है। क्यों ? क्यों आती जाती है बेईमानी। कि वे आपके सुख को तो छीनना चाहते हैं पर आपके सुख से प्रसन्न नहीं होना चाहते। बहुत दिनों की बात है, हम एक बार इलाहाबाद में ठहरे हुए थे, माघ मेला में। तो एक सज्जन हमारे पास आते थे, बड़े अच्छे लिखे-पढ़े नौजवान आदमी थे। कहते–स्वामी जी, बातें तो आपकी बहुत अच्छी हैं। हमें भी कुछ बताओ। मैंने कहा–भले आदमी ! तुम मुझको बीस बरस पढ़ाओगे, मैं तुम्हें क्या बताऊं ? नहीं कुछ तो बताओ। तो हमने कहा–एक बात है दोस्त ! नाराज न हो तो कहें। बोले–बताइये। तो हमने कहा–हम यह कहते हैं जैसे दुःखियों को

देखकर तुम्हारा हृदय करुणित होता है, उनका दुःख दूर करना चाहते हो–ऐसे जरा सुखियों को देख प्रसन्न हो जाया करो। बस यह सुनते ही वह ऐसा घबराया, बोला कि आप मेरे जोश को पैरालाइज करना चाहते हैं। कम्यूनिस्ट बिचारधारा का था। तो सुखी दुःखी हो जाय तब तुमको चैन पड़ता है, सुखी सुखी बने रहें तो तुमको चैन नहीं पड़ता। यह जो हमारी दशा है, यह मानवीय स्वभाव नहीं है। यह प्राणियों का स्वभाव हो सकता है। जैसे कोई चीज डाल दो तो बन्दर उसे छीनने के लिए आपस में लड़ते हैं कि नहीं, और कुत्ते भी लड़ते हैं। तो कुत्तों का, बन्दरों का-इनका तो यह स्वभाव हो सकता है, पर यह मानवीय स्वभाव नहीं हो सकता कि सुखी को देख कर प्रसन्न न हों और दुःखी को देखकर करुणित न हों।

इसलिए,स्थूल दृष्टि से देखा जाय,दुनियादारी की दृष्टि से देखा जाय तो उदारता से नीरसता नाश होगी और विचार की दृष्टि से देखा जाय तो स्वाधीनता से नीरसता नाश होगी। आस्था की दृष्टि से देखा जाय तो अगाध प्रियता से नीरसता नाश होगी। अब इन दोनों में तो सांसारिक सम्बन्ध ही नहीं रहा। क्यों भैया ?अगर हमको स्वाधीन होना है तो संसार से सम्बन्ध रख सकते हैं ?

श्रोता–नहीं।

अच्छा, और अगर प्रेमी होना है तो परमात्मा से सम्बन्ध तोड़ सकते हैं ?

श्रोता–नहीं तोड़ सकते।

तो देखो ! अगर तुम अध्यात्मवादी हो, विचारक हो तो

अकिंचन होकर, अचाह होकर, अप्रयत्न होकर स्वाधीनता प्राप्त कर सकते हो। क्योंकि संसार के सम्बन्ध से तीन ही बातें होती हैं–ममता पैदा होती है, कामना पैदा होती है और अहंकृति पैदा होती है। ममता,कामना और अहंकृति कहो, चाहे तादात्म्य कहो, एक ही बात है। तादात्म्य से अहंकृति पैदा होती है। तो अकिंचन अचाह और अप्रयत्न होने में पराधीन हो क्या ? यानी उदार होने में भी स्वाधीन हैं आप और स्वाधीन होने में भी स्वाधीन हैं आप–इसमें पराधीन तो नहीं हैं न ?

श्रोता–जी नहीं।

तो नीरसता मिट सकती है कि नहीं ? ऐसे ही अगर विचार करके देखो कि परमात्मा को अपना मानने में आप पराधीन हो क्या ? न मानना चाहो यह तुम्हारी मर्जी। लेकिन मानने में पराधीन हो क्या ?

श्रोता–पराधीन नहीं हैं।

तो प्रेमी होने में भी स्वाधीन। तो जो रस के तीन श्रोत थे–उदारता, स्वाधीनता और प्रेम, इन तीनों की प्राप्ति में आप स्वाधीन हो।

अच्छा, अब विचार करके देखो कि अगर आपके जीवन में नीरसता है, तो नीरसताकाल में वस्तुओं का चिन्तन मिटता है क्या ?

श्रोता–नहीं।

और व्यक्तियों का चिन्तन मिटता है क्या ? तो नीरसता मिटाना है कि वस्तु-चिन्तन मिटाना है पहले ?

श्रोता–नीरसता मिटाना है।

नीरसता मिटा रहे हैं आप कि वस्तु-चिन्तन को बुरा समझ रहे हैं। "मन बहुत खराब है, मन बहुत खराब है। वस्तु से हटाओ, भगवान में लगाओ, वस्तु से हटाओ।" अरे भले आदमी वस्तु से हटाओ तो तब, जब तुम में हटाने की योग्यता हो। आप विचार करके देखो, जब तक जीवन में नीरसता रखोगे भैया, तब तक संसार के चिन्तन से नहीं बच सकते। कोई उपाय हो तो बताये कोई। यह तो बात ऐसी है कि कभी-कभी तो ऐसा मन में आता है कि इस बात को तो बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों के सामने रख देना चाहिए कि नीरसता के रहते हुए संसार का चिन्तन मिटता है क्या? और अपने जीवन को देख लो कि नीरसता के रहते संसार का चिन्तन मिटा है क्या?

श्रोता-नहीं मिटता।

मिटता ही नहीं। इसलिए मेरा निवेदन था कि सभी को अपना मानने से आप उदार हो सकते हो। अकिंचन, अचाह और अप्रयत्न होने से स्वाधीन हो सकते हो और प्रभु को अपना मानने से प्रेमी हो सकते हो। उदारता से भी नीरसता नाश होती है और स्वाधीनता से भी नीरसता नाश होती है और प्रेम से भी नीरसता नाश होती है। अभाव का अर्थ होता है-किसी-न-किसी प्रकार की कमी को अनुभव करना। सारी सृष्टि में कोई ऐसी परिस्थिति नहीं है जो अभाव से रहित हो, अर्थात् अभाव की निवृत्ति किसी परिस्थिति के द्वारा नहीं होती। जब तक हमें रसरूप, चिन्मय जीवन की प्राप्ति नहीं होती तब तक अभाव शेष रहता है।

अब प्रश्न पैदा होता है कि जब किसी परिस्थिति से

अभाव की निवृत्ति नहीं हो सकती, तब क्या सभी परिस्थितियों से असंग होकर हम अभाव का अभाव कर सकते हैं ? यहाँ यह विचार करना होगा कि सभी परिस्थितियों से असंग होने का अर्थ क्या है ? मुझे ऐसा लगता है कि सुख-दुःख से असंग होने का नाम परिस्थितियों से असंग होना है। सभी परिस्थितियों में किसी-न-किसी अंश में सुख होता है, किसी-न-किसी अंश में दुःख होता है। और न सुख सदैव रहता है और न दुःख सदैव रहता है। सुख में पराश्रय रहता है, परिश्रम रहता है। बिना पराश्रय और परिश्रम के सुख का अनुभव नहीं होता और दुःख में अशान्ति रहती है, पराधीनता रहती है, नीरसता रहती है, अभाव रहता है। तो अब विचार यह करना है कि अशान्ति, पराधीनता, नीरसता और अभाव कैसे मिटे। ऐसा पता लगता है कि यदि हम किसी प्रकार से अवस्थातीत, परिस्थिति-रहित जीवन को पा जाएं जो कि अनुत्पन्न हुआ है। अनुत्पन्न हुआ उसे कहते हैं जो अवस्था रहित हो, उसकी कोई अवस्था नहीं होती अर्थात् परिस्थिति न बने जिसकी। ऐसा अगर कोई जीवन मिल जाय हमको तो अभाव का नाश हो सकता है और हम सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य हो सकते हैं। सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य होने का अर्थ है कि सर्वांश में अशान्ति, अभाव, पराधीनता, नीरसता का नाश हो जाय।

अब प्रश्न पैदा होगा कि क्या ऐसा जीवन शरीर के सहयोग से मिल सकता है ?

श्रोता—नहीं मिल सकता।

अच्छा, जिस जीवन के लिए शरीर की अपेक्षा नहीं है,

उस जीवन की प्राप्ति कैसे होगी ? अचाह होने से हो सकती है या नहीं ?

श्रोता–हो सकती है।

कह तो आपने बड़ी जल्दी दिया। बात भी ठीक है। पर अचाह होना कैसे सम्भव होगा भाई ? इसके दो उपाय हैं। एक उपाय तो यह है कि हम मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा दूसरों के आवश्यक संकल्पों को पूरा करें अथवा अपना संकल्प छोड़ दें और यह दोनों बातें आ जाएं तो बड़ी सुविधा से काम हो जाय। इसी बात को अपनाने के लिए मानव सेवा संघ की प्रणाली में बताया जाता है कि मुझ पर सभी का अधिकार है, मेरा किसी पर नहीं है। अगर इस बात को हम स्वीकार कर लें कि मुझ पर सभी का अधिकार है और मेरा किसी पर नहीं है, तो दूसरों के अधिकारों को देने से तो विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और अपना अधिकार छोड़ने से क्रोध की निवृत्ति होती है। अर्थात् तब हम राग और क्रोध से रहित हो जाते हैं। अब यह बात आप किस उपाय से मानेंगे, कैसे मानेंगे और कब मानेंगे--यह तो आप जानें, पर मानना पड़ेगा। शरीर के रहते हुए, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के रहते हुए हमें दूसरों के अधिकार, जो ज्ञान और सामर्थ्य के अनुरूप हैं, उन्हें पूरा करना पड़ेगा। ज्ञान-विरोधी अधिकार किसी पर होता नहीं। सामर्थ्य-विरोधी अधिकार किसी पर होता नहीं। यानी आप जो नहीं कर सकते वह आप पर किसी का अधिकार नहीं है। अथवा जो आपको नहीं करना चाहिए वह आप पर किसी का अधिकार नहीं है।

श्रोता–इससे क्रोध कैसे छूट जायगा ?

श्री महराज जी-अभी बतायेंगे, क्रोध छूट जायगा। ज्ञान-विरोधी अधिकार नहीं होता, और सामर्थ्य विरोधी भी अधिकार नहीं होता। तो अब आप पूछ रहे हैं कि अपने अधिकार छोड़ने से क्रोध कैसे छूट जायगा। क्रोध आता ही कब है, सोचो जरा! जब हम अपनी रुचि को दूसरों से पूरी कराना चाहते हैं। दूसरों पर कोई अधिकार मानते हैं, तभी न क्रोध आता है! और जब हमने अपना कोई अधिकार ही नहीं रखा तब! **त्याग का सबसे सुन्दर रूप है अपने अधिकारों का त्याग।** हालांकि आज के युग में यह बड़ी अच्छी चीज नहीं समझते। आधुनिक बालक हमारे समझते हैं अधिकार माँगना बहुत बड़ी बात है, अधिकार छीनना बहुत बड़ी बात है। लेकिन अधिकार छोड़ना बहुत बड़ी बात है, अधिकार माँगना बड़ी बात नहीं है। अधिकार देना बड़ी बात है। अधिकार देने से विद्यमान राग, पुराना जन्म-जन्मान्तर का राग नाश होता है। जैसे-शरीर का हम पर क्या अधिकार है? हम श्रमी हों, संयमी हों, सदाचारी हों, अहिंसक हों-ये शरीर के अधिकार हैं। परिवार का हम पर क्या अधिकार है? समाज की सेवा करने से जो मिले वह उनके (परिवारवालों के) हाथ में दे दें। समाज का अधिकार है-बुराई रहित भलाई करना। यह समाज का अधिकार है। अपना क्या अधिकार है? अचाह होना-यह अपना अधिकार है। और जो भगवान को मानते हैं वे कहेंगे-उनका (प्रभु) का क्या अधिकार है। तो अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध का त्याग भगवान् का अधिकार है। किसी और में हमारा विश्वास न हो, किसी और से हमारा सम्बन्ध न हो, यह प्रभु के अधिकार की रक्षा है। क्योंकि परमात्मा विश्वास साध्य है और किसी प्रकार से साध्य नहीं है। स्वाधीनता ज्ञान-साध्य है और किसी प्रकार

से साध्य नहीं है। लोक-संग्रह, उदारता से साध्य है और किसी प्रकार से साध्य नहीं है। लोक हमें उदार देखना चाहता है। हम अपने को स्वाधीन देखना चाहते हैं। और प्रभु हमें प्रेमी देखना चाहते हैं। प्रेम होता है आत्मीयता से आत्मीयता होती है विश्वास से। और कोई उपाय नहीं है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि हमारे जीवन में जो एक अभाव की वेदना रहती है। कोई न कोई कमी मालूम होती रहती है। वह इसलिए मालूम होती है कि जो जीवन अपने में है, अपना है, उसे हम पसन्द नहीं करते। वैसे अभाव का अभाव यह अध्यात्म जीवन में होता है। अध्यात्म जीवन का अर्थ होता है कि वह जीवन जो स्वतः सिद्ध है, अविनाशी है, अनुत्पन्न हुआ है और मनुष्य मात्र के लिए सम्भव है। अध्यात्म-जीवन मनुष्य मात्र के लिए सम्भव है। पर कब ? जब वह अकिंचन होकर, अचाह होकर, अप्रयत्न होकर अपने में सन्तुष्ट हो, तब सम्भव है। अब आप अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न कब हो सकते हैं ? जब सर्वांश में राग-रहित हों। अर्थात् वीतराग हों। और वीत राग कब हो सकते हैं ? जब धर्मात्मा हों। धर्मात्मा कब हो सकते हैं ? जब दूसरों के अधिकार की रक्षा करें, अपने अधिकार का त्याग करें। अगर यह बात आपको जंच जाय और अपना सत्य मालूम हो तो इस पर थोड़ा मनन कर लीजिए कि क्या हम अपने अधिकार को नहीं छोड़ सकते ! पहले तो यह सोचा जाय कि क्या सारी सृष्टि मिल कर हमारे अधिकार की रक्षा कर सकती है ? क्या राय है ?

श्रोता—नहीं कर सकती है।

अच्छा, जब सारी सृष्टि मिलकर नहीं कर सकती तो

एक व्यक्ति क्या कर देगा या दो-चार व्यक्ति क्या कर देंगे या परिवार क्या कर देगा या समाज क्या कर देगा । पहले तो यह सोचना चाहिए कि अधिकार कहते किसको हैं? देखिये, अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । और हमने तो ऐसा अनुभव किया है जीवन में कि जो कर्तव्य का दास है उसके अधिकारों का कभी हनन नहीं होता । कर्तव्यनिष्ठ प्राणी कभी अधिकार की परवाह नहीं करते, क्योंकि अधिकार कर्तव्य के पीछे-पीछे दौड़ता है । इसलिए जो लोग सही अर्थ में निर्लोभ हो गये उनकी दरिद्रता मिट गयी । निर्मोह हो गये उनका भय मिट गया । निष्काम हो गये उनकी अशान्ति मिट गयी । असंग हो गये उनकी पराधीनता मिट गयी ।

—:—०—:—

१०
(अ)

साधक के साधन-पथ में काम वासना विघ्न है–

अनेक साधक मन को समझा बुझा कर एवं दबा कर इन्द्रियों को विषय विमुख करना चाहते हैं परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती है–सुख भोगने से भोगने की शक्ति घटती जाती है और सुख भोग की वासना बढ़ती जाती है, कभी तृप्त नही होती, अतः काम का नाश सभी के लिए अनिवार्य है।

काम का नाश किसी अभ्यास से नहीं होता, प्रत्युत् सेवा त्याग और प्रेम के रस से होता है।

परमात्मा रूपी जो अनन्त तत्वहै, वह हर भाई को हर बहन को मिल सकता है। उससे निराश नहीं होना चाहिये। और सुख-दुःख साधन सामग्री है, उसे जीवन नहीं मानना चाहिये।

————

प्रवचन :

देखिये, चाह जो पैदा होती है, कोई भी चाह, वह भोग से पैदा होती है। हमने भोग किया है, इसलिए हममें चाह पैदा होती है। लेकिन वह चाह पूरी हो जायगी, यह आवश्यक नहीं है। अब सोचिये, चाह पैदा तो हो जाय परन्तु पूरी हो नहीं, तो कैसा लगेगा? बहुत बुरा लगेगा न! यह पसन्द है आप किसी को? नहीं है न! इसलिए किसी महापुरुष ने कहा कि भाई! तुम अचाह हो जाओगे तो तुमको ऐसा जीवन मिलेगा, जिसमें बुरा नहीं लगेगा। अब यह अपने सामने प्रश्न रखलो कि हमें बुरा न लगे, ऐसा जीवन चाहिए या नहीं चाहिए? क्या राय है? उसका उपाय है–कुछ मत चाहो। अब कुछ न चाहने पर भी शरीर की आवश्यकताएँ पैदा हुई। जैसे, भूख लगी, प्यास लगी, नींद लगी।

श्रोता–यहीं कठिनाई उपस्थित होती है।

श्री महाराज जी–क्या ?

श्रोता–ऐसा लगता है कि मुझे भूख लग रही है।

श्री महाराज जी–मुझे और तुझे को अभी छोड़ दें। भूख लगी है। अच्छा, जब तुम कुछ करने के लायक नहीं थे, तब किसी ने भूख दूर की थी कि नहीं ?

श्रोता–जी हां, की थी।

और तब से अब तक खाते-खाते इतने दिन बीत गये, भूख दूर हुई क्या ?

श्रोता–नहीं हुई।

तो खाने से भूख दूर होती है यह नियम तो नहीं रहा न!

अगर तुम अपने जीवन के इस सत्य को स्वीकार कर लो कि एक समय था जब भूख लगी थी और हम असमर्थ थे तब भी किसी ने खिला दिया। अब समर्थ हुए तो कुछ काम किया, उसके बदले में खा लिया और समर्थ होने के बाद फिर असमर्थ होने का नम्बर आता है–बुढ़ापा।

श्रोता–जी ?

तो जैसे आरम्भ में हम असमर्थ थे तब किसी ने खिला दिया, तो अब बुढ़ापे में जब असमर्थ हैं तब भी कोई खिला देगा। और मान लीजिए कि नहीं खिलाता कोई, तो आपका क्या बिगड़ जायगा? अनेक वर्ष खाते-खाते हो गये, खाने से भूख मिटी क्या ?

श्रोता–नहीं मिटी।

अच्छा, और खाते-खाते कभी शरीर नाश हो जायगा कि नहीं ?

श्रोता–हो जायेगा।

यदि न खाने से नाश हो जायगा तो क्या बिगड़ जायगा? थोड़ी देर के लिए मान लो कि हमारा जीवन ऐसा हो गया है कि हमारे खिलाने के लिए किसी के मन में बात नहीं आती है और खाना हमको मिलता नहीं है। तो भूखे रहते-रहते मर जायेंगे तो खाते-खाते क्या नहीं मर जायेंगे ?

श्रोता–इतना साहस नहीं है।

स्वामी जी–यही तो आपको सोचना चाहिए कि इतने दिन खाते-खाते हो गये, पर खाने की समाप्ति नहीं हुई और खाते-खाते मर भी जायेंगे। तो न खाने से मर जायेंगे तो कोई नुकसान पड़ेगा क्या ? क्या राय है ?

श्रोता–ऐसा मालूम होता है स्वामीजी, कि जल्दी ही मर जायेंगे।

श्री महाराज जी–मैं कहता हूँ कि मरने का कोई समय ही नहीं होता। अभी देखो तो तुम्हारे·········जी से पूछो, वो अभी भी मरना नहीं चाहते (हास्य ध्वनि)। यह नहीं, विचार दूसरी तरह से किया जाता है। विचार किया जाता है असलियत पर। असलियत यह है कि अगर तुम कुछ कर सकते हो तो सेवा करो और बदले में जो मिले उससे निर्वाह करो और न मिले तो मर जाओ। खा कर मर जाओ तो मर जाओ और भूखे मर जाओ तो मर जाओ। मर जाना जरूरी है।

अगर हम अचाह हो जायें और मरने से न डरें तो अमर जीवन मिलता है। इस बात में तुमको विश्वास तो इसलिए नहीं होता कि खुद जानते नहीं हो, हमारी बात मानते नहीं हो। हम तो यह कहते हैं कि अचाह हो जाओ और मरने से मत डरो तो मरने से पहले तुमको अमर जीवन मिल जायगा। अगर सन्तवाणी में विश्वास करना हो तो करो। अचाह हो जाय मनुष्य और मरने से डरे नहीं तो, मरने से पहले ही अमर जीवन मिल जाता है। शान्ति मिल जाती है, मुक्ति मिल जाती

है, भक्ति मिल जाती है। ये जितनी असली जरूरतें हैं हमारी, सब पूरी हो जाती हैं। दो ही बातों की हिम्मत होनी चाहिए– मरने से डरे नहीं और कुछ चाहे नहीं। अच्छा, मरने से डरते रहो और चाहते रहो तो चाह छूटती है क्या, और मरना बचता है क्या? जी! तो नया घाटा तो नहीं लगा। यानी अगर आपने साहस कर लिया धीरज कर लिया कि भाई मरना तो रुकेगा नहीं और चाह सभी पूरी होंगी नहीं, इसलिए मुझे मरने का भी भय नहीं है और कुछ चाहिए भी नहीं। अगर ये दो बातें मानलो दृढ़ता के साथ, तो शरीर पीछे छूटेगा अमर पहले हो जाओगे। और अगर मरने से डरते रहोगे तो मरते भी रहोगे और जन्मते भी रहोगे और फिर डरते भी रहोगे।

तो अब कौन सा जीवन चाहिए? हम मरते रहें, जन्मते रहें और डरते रहें-यह जीवन चाहिए या अमर जीवन चाहिए? अमर होने के लिए तो जीते-जी-मरना होता है और जीते-जी-मरने के लिए अचाह होना होता है। जीते-जी-मरने के लिए दो ही रूप हैं। अच्छा सोचो–जब आदमी मर जाता है तो किसी चीज को अपना कहता है क्या? उसको सुख-दुःख का प्रभाव होता है क्या? मान-अपमान का प्रभाव होता है क्या?

श्रोता--ठीक से नहीं कहा जा सकता।

श्री महाराज जी--किसी मरे हुये को प्रभावित होते हुए देखा है तुमने? पता तो तुमको इतना है कि मरना जरूरी है। जी? और चाह पूरी होगी नहीं, यह भी पता है। तो जो पूरी न हो उसको छोड़ने में क्या डर है और जो जरूरी है

उसको अपनाने में क्या डर है? अगर मरना बच जाता तो हम बचने की कोशिश करते। चाह पूरी हो जाती तो चाह पूरी करने का प्रयत्न करते। परन्तु चाह पूरी होगी नहीं, मरने से बचेंगे नहीं। इसलिए मरने से डरो मत। देखो! मरने में दु:ख नहीं है, मरने के भय में दु:ख है। मरने का भय मत करो, मरने से डरो मत। और हमारा तो ऐसा ख्याल है हम चूंकि जीना चाहते हैं,इसलिए मरने से डरते हैं। अगर जीने की लालच न रहे तो मरने का भय भी न लगे। जहाँ तक हमारे विश्वास की बात है वह यह है कि मरने में कोई कष्ट नहीं होता। कष्ट जो होता है वह इस बात का होता है कि हम जीना चाहते हैं और मरना पड़ रहा है। इस प्रमाद से कष्ट होता है मरने में। हम जीना चाहते हैं और मरना पड़ रहा है। अगर हम जीना न चाहें तो मरने में कोई कष्ट नहीं है। इसी तरह से अचाह होना, मरने से भय न करना, जीने की आशा न रखना–अगर ये बातें जो कि अनिवार्य हैं, कम्पल्सरी हैं, होएंगी ही, रुकेंगी नहीं, उनको पसन्द कर लेते हम, तो आपको मरने से पहले अमर जीवन मिल जाता, स्वाधीन जीवन मिल जाता, सरस जीवन मिल जाता।

अब अगर सरस जीवन चाहते हो, स्वाधीन जीवन चाहते हो, अमर जीवन चाहते हो तो मरने से डरो मत। और जीते जी मरने का अर्थ होता है कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। जीते जी मरने का अर्थ खुद-कशी (आत्महत्या) करना नहीं होता। क्योंकि मरने से सम्बन्ध टूट जाता है, इस-लिए मेरा कुछ नहीं है। और भाई,अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। अहंभाव का नाश हो जायगा इन्हीं दो बातों से कि मेरा कुछ

नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। यदि आपको यह पसन्द नहीं है, इस बात में आपको बिश्वास नहीं होता है कि न चाहने से और जीते-जी मरने से अमर हो जायेंगे, जीवन मिल जायेगा–ऐसा बिश्वास नहीं होता सन्तवाणी पर, गुरुवाणी पर, बेदवाणी पर, तो फिर अब कोशिश करो कि बच जाओ। कोई तरीका है बचने का, बोलो ?

श्रोता–कोई उपाय नहीं।

अगर कोई उपाय नहीं हो तो फिर अब यही तो उपाय रह गया कि भाई, मानव सेवा संघ में हमने सुना है सन्तवाणी में कि, जीते जी मर जाने से अमरजीवन मिल जाता है, स्वाधीन जीवन मिल जाता है, रसरूप जीवन मिल जाता है। हमारे गुरु का वाक्य है–"जीते जी मर जाय अमर हो जावे, दिल देवे सो दिलवर को पावे।" यह गुरुवाणी है। हमने अपने गुरु महाराज के मुख से, उन्हीं के शब्दों में सुनी है। उन्हीं की बनाई हुई कविता है।

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता था कि गुरुवाणी के आधार पर, बेद वाणी के आधार पर, सन्तवाणी के आधार पर हमें इस सत्य को अपनाना चाहिए कि हम मरने से डरेंगे नहीं, अपितु जीते-जी मरेंगे। संसार से, शरीर से सम्बन्ध तोड़ना जीते-जी मरना है। अचाह होना जीते जी मरना है। और सम्बन्ध तोड़ने में दो ही बातें हैं। बल्कि तीन बातें मान लो ज्यादा से ज्यादा। मेरा कुछ नहीं है सम्बन्ध टूटा, मुझे कुछ नहीं चाहिए सम्बन्ध टूटा और मैं कुछ नहीं हूँ सम्बन्ध टूटा।

श्रोता–मैं कुछ नहीं हूँ ?

हाँ, यह भी एक चीज है। वह अभी तुम्हारी समझ में नहीं आयेगी। तादात्म्य होता है न ! जैसे मैं अमुक हूँ, तो कुछ हूँ तब न, "मैं" बना है। मैं हिन्दू हूँ, मैं हिन्दुस्तानी हूँ, मैं प्राणी हूँ, मैं इन्सान हूँ–ऐसा मालूम होता है न ! तो मैं कुछ नहीं हूँ, तब भी सम्बन्ध टूट जायगा और मेरा कुछ नहीं है तब भी सम्बन्ध टूट जायगा और मुझे कुछ नहीं चाहिए तब भी सम्बन्ध टूट जायगा। अगर किसी को संसार से सम्बन्ध तोड़ना हो, अमर होना हो, स्वाधीन जीवन पाना हो, रसरूप जीवन पाना हो तो इन तीन बातों पर विचार करें। मेरा कुछ नहीं है, पहली बात। मुझे कुछ नहीं चाहिए, दूसरी बात। मैं कुछ नहीं हूँ, तीसरी बात।

श्रोता–मैं कुछ नहीं हूँ की जगह मुझमें रसरूप जीवन की माँग है, ऐसा कहें तो ?

स्वामी जी–देखो, देखो ! स्वतन्त्रता से मुझे बोलने दो और आप स्वतन्त्रता से सुनते रहो। मैं आपसे निवेदन करता हूँ, जैसे तुम किसी दिन कहलाते थे अमुक······दास। अब क्या कहलाते हो ? अब तो नहीं कहलाते। तो कुछ थे नहीं तभी तो नहीं कहलाते (हास्य)। यह बहुत गम्भीर बात है। देखिये, कोई-कोई बात बड़ी गम्भीर होती है, और बड़ी दार्शनिक भी। अच्छा "यह" देखा है आपने, "मैं" देखा है किसी ने, बोलो ? अब देखो, सारे शरीर को देखो। यह अंगुली है, यह हथेली है, यह शरीर है। यह सूक्ष्म शरीर है, यह कारण शरीर है, यह प्राण है, यह अन्नमय कोष है, यह प्राणमय कोष है, यह मनोमय कोष है। यह सब कुछ "यह" के अन्तर्गत है।

"तीन अवस्था, तीन गुण, पंच कोष, त्रिदेह" –इन सब को तुम कहते हो "यह" तो बताओ 'मैं' क्या चीज है ? और 'यह' का जो ज्ञाता है, 'यह' का जो प्रकाशक' है 'यह' का जो आधार है वह है परमात्मा । तो तुम क्या निकले ? अब समझ में आ गया कि मैं कुछ नहीं हूँ ? यानी प्रतीत होने वाले 'यह' का ज्ञाता–सुना है हमने वेदवाणी से, गुरुवाणी से, –आधार और प्रकाशक कौन है ? परमात्मा है । और जो प्रतीत होता है वह "यह" है । "यह" है और परमात्मा है, 'मैं' कहाँ है ? लेकिन यह रहस्य अनुभव में कब आयेगा ? जब पहले यह स्वीकार करोगे कि मेरा कुछ नहीं है । क्यों नहीं है ? अगर मेरा करके कुछ होता तो उस पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार होता । मेरा किसी वस्तु पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं, किसी व्यक्ति पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं । जी ? किसी परिस्थिति पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं, किसी अवस्था पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं । तो जब मेरा किसी पर अधिकार है ही नहीं, तो मेरा कुछ नहीं है–यह जीवन का सत्य नहीं है क्या ? अच्छा, अब इस सत्य को मान कर सोचो, क्या चाहिए फिर ? जब तुम शरीर को अपना मामते हो तब तुमको बहुत सी चीज चाहिए, और अगर यह जान लो कि मेरा नहीं है, तो क्या चाहिए ? कुछ नहीं चाहिए । मेरा कुछ नहीं है, इससे कुछ न चाहने की सामर्थ्य आती है कि नहीं ? जब मुझे कुछ नहीं चाहिए तब बताओ "मैं" क्या है ?

श्रोता–स्वामी जी ! मेरा कुछ नहीं है, इसकी बजाय मैं शरीर नहीं हूँ–यह मानते तो ?

श्री महाराज जी–मैं आपसे यह निवेदन करता हूँ–

वाचक ज्ञानी बनोगे कि जीवन का सत्य अनुभव करोगे ? आपको आदत पड़ गयी है कि जो पढ़ लिया है, जो सीख लिया है उसी को तोते की तरह रटते रहते हैं–जिन्दगी भर। मैं आपसे नम्रता से निवेदन करना चाहता हूँ सरकार ! मेरा कुछ नहीं है, यह बात इस आधार पर सिद्ध हो गयी कि मेरा किसी पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। मैं जब तक चाहूँ शरीर को नहीं रख सकता, जैसा चाहूँ नहीं रख सकता। क्या राय है ? रख सकते हो ? इसलिए सिद्धान्त-रूप से यह बात सिद्ध हो गयी कि मेरा कुछ नहीं है। जब यह बात आपने मान ली कि मेरा कुछ नहीं है तब फिर में पूछता हूँ आपको क्या चाहिए ? तब यह सामर्थ्य आयेगी कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। तो मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए–"मैं" क्या हुआ भाई ? देखिये, आप सीखी-सिखायी बातों पर दिमाग मत लगाइये। आप इस तरह से सोचिये कि जब मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए तो "मैं" फिर कुछ नहीं। जी ?

श्रोता–महाराज जी, ऐसा लगता है कि मैं शरीर नहीं हूँ।

श्री महाराज जी–यह तो तुमने सीखा है न ! आपको लगता है कि मैं राग हूँ। क्योंकि आपने विश्वास किया है। किसी भी स्वीकृति को स्वीकार करने के बाद वह सत्य मालूम होता है। लेकिन स्वीकृति है क्या ? इस पर सोचो भैया ! धीरज से सोचो, घबराओ मत। मेरा कुछ नहीं है, मेरा-मेरा कुछ नहीं और "मैं हूँ"–"मैं हूँ" कहते-कहते जिन्दगी बीत गई, "मैं" को समझा ही नहीं।

बहुत ही निष्पक्ष भाव से, अगर आप अपने अनुभव के आधार पर बात करें, तब आपको यह मानना पड़ेगा कि अगर तुमने इस सत्य को स्वीकार कर लिया कि मेरा कुछ नहीं हैं तो तुममें यह सामर्थ्य आ जायगी कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। और जब यह सामर्थ्य आ जायगी कि जिसे कुछ नहीं चाहिए तो वह 'कुछ नहीं' अथवा 'सब कुछ।' यह तो मैंने तुम्हारी खुशी के लिए कह दी बात। घबराहट पैदा न हो जाय। इसमें आप खुश हो गये कि "मैं ब्रह्म हूँ" –बस खालो लड्डू, हो जाओ ब्रह्म। लेकिन विचार करने की बात यह है कि ज्ञान का प्रकाश है आप में। आप ज्ञानी नहीं है, ज्ञान का एक प्रकाश है। आपके पास बुद्धि है, इन्द्रिय-दृष्टि है। इन्द्रिय-दृष्टि से बुद्धि-दृष्टि से ज्ञान के प्रकाश में आप यह अनुभव कर रहे हो कि मेरा किसी भी वस्तु पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, अर्थात् मेरा कुछ नहीं है। यह ज्ञान के प्रकाश में अनुभव हो रहा है या नहीं ? बोलो !

श्रोता–जी हो रहा है।

अगर इस अनुभव का आप आदर करते हो, इस सत्य को स्वीकार करते हो कि मेरा कुछ नहीं है, तो आपको यह कहना ही पड़ेगा कि मुझे कुछ नहीं चाहिए।

श्रोता–परन्तु मेरी माँग तो है।

श्री महाराजजी–फिर वही सुनी हुई बात ! जो बात कहते हैं उसे क्यों नहीं सुनते आप ? इतने रूढ़िवादी क्यों बनते जाते हो ? यानी जिस वक्त आपने यह अनुभव किया कि मेरा

कुछ नहीं है, उस वक्त आप नहीं कह सकते कि मुझे कुछ चाहिए। अच्छा, तो अचाह भी हो गये, और अकिंचन भी हो गये। फिर "मैं" कुछ नहीं है। यह तो है जीवन का अनुभव।

गुरुवाणी में, वेद–वाणी में हमने सुना है कि परमात्मा है। अब परमात्मा है–यह हमारी आस्था है कि हमारा ज्ञान है?......सज्जन-हैं क्या ?

श्रोता--जी हैं।

सुन रहे हो भैया ? परमात्मा है--यह हमारी आस्था है कि हमारा ज्ञान है ?

श्रोता--आस्था।

अच्छा "मैं हूँ"--यह हमारा भ्रम है (आ-हा-हा-हास्य) कि हमारा ज्ञान है ?

श्रोता--प्रश्न यह है कि फिर यह अनुभव किसका है ?

श्री महाराज जी--देखिये, पण्डित जी। मैं बताता हूँ, आपको। अनुभव किसे कहते हैं आप ? अनुभव है उसको, जिसको इक्सपीरिएंस क्या कहते हैं आप अंग्रेजी में, यानी आपको यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि मेरा किसी पर चूंकि स्वतन्त्र अधिकार नहीं है इसलिए मेरी अपनी करके, पर्सनल कोई वस्तु नहीं हो सकती। अब मैं आपसे यह निवेदन करता हूँ कि जिसको इस बात का ठीक-ठीक अनुभव हो रहा है कि

मेरा किसी वस्तु पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, अर्थात् मेरा कुछ नहीं है अतएव मुझे कुछ नहीं चाहिए। जब कुछ नहीं है, तो कुछ चाहिए भी नहीं। जब मैं अपना कुछ मान लेता हूँ तो मुझको मकान चाहिए, कपड़ा चाहिए, साथी चाहिए, वस्तु चाहिए, औषधि चाहिए इत्यादि, इत्यादि। जब तक मैं अपने को अथवा अपना करके, कुछ नहीं मानता हूँ, तब तक मुझे कुछ नहीं चाहिए। तो यह सत्य जब हमारे जीवन में उतर गया कि मेरा कुछ नहीं है, तो यह भी आ जायगा कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। जब मुझे कुछ नहीं चाहिए तो "मैं" जैसी चीज कोई नहीं रह गयी।

श्रोता–इस प्रकार मिटाने से तो "मैं" मिट जाता है।

श्री महाराज जी–'मैं' जैसी रह ही नहीं गई कोई चीज ! तो रह गयी "है"। अब 'है" और 'यह"। अब देखो, मैं बताता हूँ, जिसके पीछे आप लालायित हो, घबरा रहे हो। जब 'यह' और 'है' हो गया, तो 'है' की है जिज्ञासा जिसमें और 'यह' की है ममता जिसमें, उसका नाम "मैं" रख लिया। तो–"मैं"–यह काल्पनिक नाम रखा गया 'यह' की ममता को लेकर। और 'यह' की ममता यदि आपने खत्म कर दी है तो काल्पनिक नाम रह सकेगा क्या? देखिये, विचार करना और बात है, मानना न मानना आप की मौज है।

मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि "यह" की ममता को लेकर और 'वह' की जिज्ञासा को लेकर "मैं" मालूम होता है। (एक श्रोता का नाम लेकर) आप सुन रहे हैं?

श्रोता–जी हाँ।

क्या ? कि सुना हुआ हमारा यह भी है कि परमात्मा है, आत्मा है, ब्रह्म है। यह सुना हुआ ही है। और देखा हुआ "यह" है। तो सुने हुए कि जिज्ञासा और देखे हुए की ममता जिसमें है, उसका नाम हुआ "मैं"। जरा सोचियेगा। लेकिन ममता नाश होने के बाद जिज्ञासा रहती है क्या ? बोलो !

श्रोता–नहीं रहती।

तो जिज्ञासा भी गयी, ममता भी गयी। अब "मैं" क्या है, बोलो ? इस तरह से सोचो। यह सोचने का केवल एक ढंग है, कोई नई बात तो है नहीं।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा हूँ कि या तो इस प्रश्न को लेकर जाओ गुरु के पास कि "मैं क्या हूँ।" और गुरु कह दे बेटा ! 'तुम भगवान के नित्य सखा हो' तो मान लो। 'नित्य दास हो' तो मान लो, 'नित्य प्रिया' हो तो मान लो। वैष्णव के पास जाओ तो। और वेदान्ती के पास जाओ तो वह कहे बेटा "तुम ब्रह्म हो" वह मान लो और आर्य समाजी के पास जाओ तो कहेगा–'तुम जीव हो'–यह मान लो। तो, आप जो अपने सम्बन्ध में जितनी चर्चा करते हैं कह–सुन कर, मान कर करते हैं या अपने आधार पर करते हैं ? क्या राय है आपकी ?

श्रोता–सुन कर, मान कर करते हैं।

तो मैं उसको तो एतराज करता ही नहीं हूँ। "मैं" माने जीव भी है, मैं माने भगवान का सखा भी है, "मैं" माने भगवान का प्रिया भी है, "मैं" माने ब्रह्म भी है और "मैं" माने आत्मा भी है। लेकिन

यह बात हमारे विश्वास के आधार पर है, न कि ज्ञान के आधार पर। यह मेरा निवेदन था। ज्ञान के आधार पर ईमानदारी से यह सत्य मालूम होता है कि अगर इस सत्य को मैं मान लूं कि मेरा किसी पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं है तो निर्मम होने से, निष्काम होने की सामर्थ्य आ जाती है। और निर्मम और निष्काम होने के बाद "मैं" का स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ नहीं रहता। हाँ, फिर "है" का रहता है। और इस बात को मुझसे पहले बहुतों ने कहा है–"हम मिट गये तो, नूरे हस्ती नजर पड़ी।" हम मिट गये तब, हम होकर नहीं और "वीरां हुए तो बस्ती नजर पड़ी।" तो यह बात पहले भी लोगों ने कही है, अभी भी कहते हैं। और श्री हरिबाबा जी कहा करते थे कि मैं ब्रह्म हूँ, यह तो बहुत आरम्भिक बात है। "सर्वम् खलुइदम ब्रह्म" यह सत्य है। ब्रह्म है–यह सत्य है, जगत नहीं है–यह मिथ्या है। जगत मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है–अन्तिम दर्शन का निचोड़ है यह।

तो वह बात मैं नहीं कह रहा था। मैं तो इस दृष्टि से कर रहा था कि एक प्रश्न चला हमारे सामने। वह यह चला कि भाई, हमको भूख लगती है, प्यास लगती है, नींद लगती है, यह चाहिये, वह चाहिये। हम कैसे कह दें कि हम अचाह हो गये। इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि भाई, यह मत मानो कि मुझे कुछ नहीं चाहिए तो चाह पूरी होती है क्या? क्या राय है?

श्रोता--नहीं होती।

तो चाह पूरी होती नहीं और कुछ न चाहने वाली बात

आपने मानी नहीं। यह तो आपका अनुभव है कि चाह पूरी नहीं होती और आपने अचाह होना पसन्द नहीं किया,अकिंचन होना पसन्द नहीं किया तो विकारों में आबद्ध हो गये। अचाह होना पसन्द नहीं किया तो अशान्ति से आबद्ध हो गये। तो विकारों की उत्पत्ति और अशान्ति की उत्पत्ति जीवन के सत्य को न मानने से हुई कि नहीं ? बताओ, बोलो ? तो क्या आपको यह पसन्द है कि विकारों की उत्पत्ति होती रहे, अशान्ति की उत्पत्ति रहे ? इसीलिए यह प्रश्न पैदा हुआ। अब आपने कहा- अचाह कैसे हो जायें। हमने कहा यदि यह बात आपको मालूम हो जाय पहले कि मेरा कुछ नहीं है तो अचाह हो जाओगे। जो अपने को अकिंचन स्वीकार नहीं करेगा वह अचाह कभी नहीं होगा। जो अकिंचन अनुभव करेगा, वह अचाह होगा। और अकिंचन अनुभव करेगा तो निर्विकारता आ जायेगी। अचाह अनुभव करेगा तो शान्ति आ जायगी। और शान्ति, निर्विकारता, जीवनमुक्ति-यह "मैं" का स्वरूप है या "है" का स्वरूप है ? परमात्मा निर्विकार है कि 'मैं' निर्विकार हूँ ? परमात्मा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है कि 'मैं' शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हूँ ?

श्रोता–परमात्मा है।

परमात्मा है, तो मैं तो आपसे निवेदन करता था कि वेद वाणी से जिसे परमात्मा कहते हैं वो है और बुद्धि-दृष्टि से, इन्द्रिय दृष्टि से जगत की प्रतीति है, 'मैं' की प्रतीति नहीं है। 'मैं'को प्रतीति है और प्रतीति ममता के आधार पर और जिज्ञासा के आधार पर। जिज्ञासा पूरी हो जाती है, ममता नाश हो जाती है। "मैं" समाप्त हो जाती है, "है" रह जाता है।

ब्रह्म को ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जीव को ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। लेकिन वह भाषा में, प्रक्रिया में, जीव कल्पना कर लेते हैं तो फिर उसकी संगति लगा देते हैं। लेकिन अब किसी में इतनी योग्यता न हो, शास्त्र का इतना ज्ञाता न हो और जीवन का अध्ययन करे, तो जीवन के अध्ययन से यह बात साफ मालूम होती है कि मेरा करके कुछ है नहीं। सबसे पहला सत्य है यह जिसे मनुष्य स्वीकार करे। मनुष्य कहता हूँ उसको, "मैं" नहीं कहता हूँ। मनुष्य यह स्वीकार करे कि मेरा कुछ नहीं है। तब उसमें यह सामर्थ्य आयेगी कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। तब क्या होगा ? वह जो भासित होने वाला "मैं" था वह "है" में विलीन हो जायगा और प्रतीत होने वाला जो शरीर था वह 'यह' में विलीन हो जायगा। तो कुछ चीज 'यह' में विलीन हो गयी, कुछ चीज "है" में विलीन हो गयी, 'मैं' करके तो कुछ रहा नहीं। अगर यह न समझ में आये, न मानें, आपकी मर्जी।

देखिये प्रक्रिया-भेद होता है सत्य में भेद नहीं होता। जो 'मैं' को मानकर चलते हैं वे भी उसी सत्य को पहुँचते हैं। जो नहीं मानकर चलते हैं वह भी सत्य को पहुँचते हैं। लेकिन यह तो हो नहीं सकता कि सब 'मैं' को मानकर चलें या नहीं मान कर चलें। यह आपकी अपनी मर्जी है। चाहे मान कर चलो, चाहे न मानकर चलो। तो 'मैं' जैसी चीज का किसी को बोध नहीं है। बोध है ब्रह्म का, बोध है योग का, बोध है प्रेम का। 'मैं' का बोध नहीं है। प्रतीति है दृश्य की, 'मैं' की प्रतीति नहीं है। न बोध में 'मैं' आता है, न प्रतीति में 'मैं' आता है।

—:o:—

१०

(ब)

मानव मात्र का यह अनुभव है कि —

(१. जो चाहते हैं सो होता नहीं है,
(२) जो होता है सो भाता नहीं है,
(३) जो भाता है वो रहता नहीं है,

सारा जीवन चाह की उत्पत्ति, पूर्ति और अपूर्ति के सुख दुःख भोगने में निकल जाता है, परन्तु जीवन का सत्य क्या ?

"कुछ" चाहने से "कुछ" मिलता है,
"कुछ" नहीं मिलता है, परन्तु
"कुछ" नहीं चाहने से "सब कुछ" मिलता है।

"सब कुछ" अर्थात् वह मिलता है, जिसे पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रहता। उसे ज्ञानी जन दिव्य चिन्मय जीवन कहते हैं, योगी जन परम तत्व कहते हैं, और भक्तजन भगवान कहते हैं।

—: ० :—

प्रवचन :

शरीर के रहते हुए ही काम नाश होता है और काम नाश होने से ही यह हमारी जो मांग है वह पूरी होती है। अब इस सम्बन्ध में किसी को कोई विकल्प उठता हो, समझ में न आया हो, कठिन मालूम देता हो तो प्रश्न करो। तो हमारे सामने प्रश्न है काम के नाश का। काम का अर्थ क्या है, इस पर यदि हम विचार करें तो कर्तव्य को काम नहीं कहते। काम का अर्थ है वस्तुओं का, व्यक्तियों का, परिस्थितियों का, अवस्थाओं का आकर्षण। उसका आकर्षण जिसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। उसको काम कहते हैं। काम माने उसका आकर्षण जिसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। स्वतन्त्र स्थिति किसकी नहीं है? विचार करके देखो! न शरीर की स्वतन्त्र स्थिति है, न संसार की स्वतन्त्र स्थिति है। यह बात समझ में आती है?

श्रोता–आती है।

स्वतन्त्र स्थिति केवल, एक मात्र जिसकी है उसी को भक्तों ने भगवान कहा है, उसी को जिज्ञासुओं ने तत्व-ज्ञान कहा है उसी को किसी ने चिरशान्ति कहा है। तो परमात्मा की स्वतन्त्र स्थिति है, तत्व-ज्ञान की स्वतन्त्र स्थिति है, चिरशान्ति की स्वतन्त्र स्थिति है, जीवनमुक्ति की स्वतन्त्र स्थिति है, भक्ति की स्वतन्त्र स्थिति है। तो शान्ति, मुक्ति और भक्ति इनकी स्वतन्त्र स्थिति है और यही हम सबको प्राप्त होने वाली चीज हैं।

देखो, शान्ति का अर्थ यह नहीं है कि प्रतिकूलता आने पर हम भयभीत हो जायें। यह शान्ति का अर्थ नहीं है। जब शान्ति प्राप्त हो जाती है तो प्रतिकूलता आने पर भयभीत नहीं होते, अपितु उसके सदुपयोग का बोध हो जाता है। यह नियम ही है। ऐसे ही जब अनुकूलता आती है तो उसमें फंस जाय वह शान्ति नहीं है, वह सुख है। शान्ति का अर्थ है कि परिस्थिति के सदुपयोग का हमको बोध हो जाय कि सुख का सदुपयोग कैसे किया जाय दुःख का सदुपयोग कैसे किया जाय। यह बात साधक के सामने रहती है। और वह सुख-दुःख के सदुपयोग के द्वारा सुख-दुःख से अतीत के जीवन को प्राप्त करता है। यह उसका अपना निजी जीवन है, जिसमें शान्ति है, जिसमें अभाव नहीं है, जिसमें पराधीनता नहीं है। जिसमें नीरसता नहीं है। अर्थात् जो रसरूप जीवन है वह उसको प्राप्त होता है, सुख-दुःख के सदुपयोग से।

अगर यह बात आप मान लेते हैं, सदा के लिए मान लेते हैं और दृढ़ता के साथ मान लेते हैं तो दुःख भी आपके लिए साधन-सामग्री है, सुख भी आपके लिए साधन सामग्री है।

श्रोता-यही अमर जीवन है ?

श्री महाराज जी-नहीं। इसका फल अमर जीवन है। सुख-दुःख के सदुपयोग का फल अमर जीवन है। सुख-दुःख तो उपाय है न ! उपाय तो लक्ष्य नहीं होता है। उपाय को तो धारण किया जाता है, यानी सुख-दुःख का सदुपयोग हमको करना पड़ेगा। उसके परिणाम में जो जीवन मिलता है, वह

अमर जीवन है और उसी को "जीवन" कहते हैं और उसका कभी नाश नहीं होता। वह नित्य प्राप्त है सभी को, लेकिन उसकी विस्मृति हो गई है। हमने अपने को सुख की दासता में आबद्ध करके दीन-हीन, मलिन बना लिया है। अगर हम सुख की दासता में आबद्ध न हों, अगर हम दुःख से भयभीत न हों, तो दुःख के द्वारा भी वही जीवन मिलता है, सुख के द्वारा भी वही जीवन मिलता है।

देखिये, प्रत्येक मानव दो पैरों से चलता है। एक पैर से तो कोई चलता नहीं। तो सुख-दुःख दो पैर हैं अमर जीवन तक पहुँचने के। कब? जब उनका सदुपयोग किया जाय और इसकी स्वाधीनता मनुष्य को प्राप्त है। ऐसा कोई नहीं कह सकता है कि दुःख के सदुपयोग की स्वाधीनता मनुष्य को प्राप्त नहीं है। अरे भाई! हानि हो गयी तो निर्लोभ बनो, व्यक्ति चला गया तो निर्मोहि बनो। कामना पूरी नहीं हुई तो निष्काम बनो। तो उसका उपयोग तो है। दुःख का सदुपयोग है, सुख का भी सदुपयोग है। सुख है तो किसी के काम आओ। ज्ञान का भी सदुपयोग है कि कुछ मत चाहो। ज्ञान हमें प्रेरणा देता है कि कुछ मत चाहो। विश्वास का भी सदुपयोग है, प्रभु को अपना मान कर अपने में सोई हुई अखण्ड स्मृति जगाओ, प्रियता जगाओ। स्मृति, प्रियता, शान्ति, स्वाधीनता यह सब अविनाशी तत्व हैं। और उस जीवन में यही सब चीजें हैं–शान्ति, स्वाधीनता, स्मृति और प्रियता।

तो इस दृष्टि से देखा जाय कि यह जो साधना है, यही अमर है और साधना क्यों अमर है? क्योंकि साधना में जो सत्ता होती है वह साध्य की होती है। साधना में साध्य की

सत्ता होती है। हमसे भूल क्या होती है कि हम अपनी भूल से असत्य को स्वीकार करके साधना के रहते हुए असाधन उत्पन्न कर लेते हैं। यह हमसे भूल होती है। जैसे सुख के रहते हुए भी शान्ति की मांग रहती है। यह नहीं कि दुःख में ही शान्ति की माँग रहती है। तो शान्ति की माँग भी रहती है, सुख का प्रलोभन भी रहता है। जब सुख का प्रलोभन रहता है तो हम सुख का सदुपयोग नहीं करते सेवा में, उसे खुद भोगने लगते हैं। सुख के भोग से दुःख का भय उत्पन्न हो जाता है। फिर दुःख के भय का भी सदुपयोग नहीं करते, त्याग को नहीं अपनाते तो फिर हम सदा के लिए भोग-योनि में चले जाते हैं, दीर्घ काल के लिए, बहुत दिनों के लिए। फिर कभी प्रभु कृपा करें और मनुष्य योनि दें, तब हम सुख की दासता और दुःख के भय से मुक्त हों।

देखिये, यह जो आपका मानव जीवन है, यह मानव-जीवन सुख दुःख भोगने के लिए नहीं है। क्योंकि सुख-दुःख का भोग अगर जीवन का लक्ष्य होता तो पशु-पक्षी आदि योनियों में भी सुख भोगा जाता है! हम एक बार कश्मीर गये थे। सम्वत् १९९० की बात है। जिनके यहाँ ठहरे थे, उनके कुत्ते को जितना सुख था, वैसा सुख हिन्दुस्तान में करोड़ों आदमियों को नहीं है। करोड़ों को ! ! आप ताज्जुब करेंगे। बढ़िया से बढ़िया साबुन से नहलाया जाता था उसे और कमरे में बड़े सुन्दर-सुन्दर मुलायम नमदे (गलीचे) बिछाये जाते थे, उसके रहने के लिए। बड़ी सुन्दर कुतिया रखी जाती थी उसके साथ। और महाराज, उस सस्ते के जमाने में वह कुत्ता आठ आने रोज की मलाई को बर्फ खाता था और वहाँ जो

बगीचे में सैर करने की जगह है, वहाँ मोटर में बैठ कर सैर करने जाता था। तो मोटर में बैठना, बंगले में रहना, बच्चों को पैदा करना, और रुचिपूर्वक भोजन करना, अगर इसी को हम जीवन मानते हैं तो इस जीवन के लिए मनुष्य योनि आवश्यक है क्या ? क्या राय है ? सुख भोग के जीवन के लिए मनुष्य योनि आवश्यक नहीं है।

अगर इस सत्य को हम मान लेते है तो हमें जो मानव जीवन मिला है वह मानव जीवन हमको यह प्रेरणा देता है कि भाई, परिस्थिति के अनुसार हमारे विकास के लिए सुख भी आयेगा, दुःख भी आयेगा। आयेंगी दोनों चीजें। और यह कोई हमारे ही जीवन में आती हों, ऐसी बात नहीं है। हमने तो नहीं देखा कि कोई आदमी कहे कि हमारे जीवन में केवल सुख आया है, दुःख नहीं आया है या केवल दुःख आया है, सुख नहीं आया है। सुख भी आयेगा, दुःख भी आयेगा। हम मानव हैं, हम साधक हैं, साधक होने के नाते हमें सजगतापूर्वक सुख-दुःख का उपयोग करना है। सुख-दुःख के सदुपयोग से ही सुख-दुःख से अतीत अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप जीवन मिलता है। अगर यह बात आपको समझ में आती हो, ठीक बैठती हो, तो मान लें कि शरीर के रहते हुए ही भगवत् प्रेम की प्राप्ति होती है, शरीर के रहते हुए ही जीवन-मुक्ति की प्राप्ति होती है। शरीर के रहते हुए ही चिरशान्ति की प्राप्ति होती है। चिरशान्ति भी अविनाशी तत्व है, जीवनमुक्ति भी अविनाशी तत्व है, भगवत् प्रेम भी अविनाशी तत्व है। शान्ति का जो रस है, उससे जीवन मुक्ति का रस बढ़िया है। मुक्ति का जो रस है, उससे भक्ति का रस बढ़िया है। क्यों ? शान्ति के रस में दुःख का प्रवेश नहीं

होता और मुक्ति का रस अखण्ड रहता है। किन्तु भक्ति का रस अनन्त रहता है। इसलिए इन तीनों में एक ही तत्व है, एक ही सत्ता है, रस के भेद से शान्ति, मुक्ति ओर भक्ति-ये तीन शब्द बताये गये। अथवा यों समझो कि मुक्ति अपने लिए उपयोगी है, भक्ति प्रभु के लिए और शान्ति जगत के लिए। अब तुम कितने सुन्दर हुए !

मनुष्य होने के नाते तुम कितने सुन्दर हो, कि जगत के लिए भी उपयोगी और अपने लिए भी उपयोगी और प्रभु के लिए भी उपयोगी। इस दृष्टि से इस मानव जीवन का बड़ा महत्व बताया गया है। लेकिन भाई बड़े दुःख के साथ यह कहना पड़ता है कि जब मानव सत् का संग नहीं करता तो वह पशुओं से भी नीचा हो जाता है। बिल्कुल गिर जाता है। और अगर सुख-दुःख का सदुपयोग करता है तो इन्द्र से भी ऊँचा हो जाता है। यह आपके जीवन की महिमा है। यह शरीर रहे तो क्या और जाये तो क्या! उससे कोई खास अन्तर नहीं पड़ता। जब तक है तब तक है ही, उस का सदुपयोग करो। शरीर माने क्या ?एक प्रकार की सामर्थ्य। और क्या है ? बोलो ! शरीर से कुछ कर सकते हो। क्यों भाई ! और शरीर की परिभाषा है ?

श्रोता-स्वामी जी इस बात को भूल जाते हैं।

देखो ! देखो ! भूल जाते हो तो उसके लिए प्रायश्चित् करो, दुःखी हो,सत्संग करो। भूल जाना तो कोई सिद्धान्त नहीं है। भूल जाना कोई अनिवार्य अंग नहीं है। यह तो आपकी अपनी भूल है।

मैं यह निवेदन कर रहा हूँ आपसे कि आप इस बात पर जरा गौर कीजिए कि शरीर माने एक प्रकार की सामर्थ्य। जैसे तुम्हारे पास शरीर है तो थोड़ी गायों की सेवा कर सकते हो। जी! शरीर न होता तो गऊ की सेवा कर सकते थे क्या? सूक्ष्म शरीर है तो सभी के प्रति सद्भाव रख सकते हो।कारण शरीर है तो निर्विकल्प स्थिति में पहुँच सकते हो। इस तरह से शरीरों के उपयोग से हम कुछ कर सकते हैं और करने का जो सम्बन्ध है वह लोक के साथ है। अतः लोक की सेवा करो भाई। तो शरीर है संसार-रूपी बाटिका की सेवा-सामग्री। शरीर अपने लिए नहीं है। हमसे सबसे बड़ी भूल यह होती है कि हम शरीर को अपने लिए मान लेते हैं। अपने लिए शरीर कभी काम नहीं आयेगा। देखो! जिसको साधन कहते हैं, जिसको भजन कहते हैं, वह शरीर-धर्म नहीं है। मनुष्य का स्वधर्म है-साधन-भजन। कैसे? साधन किसे कहते हैं भाई? मन, वाणी, कर्म से बुराई रहित हो गये--साधन हो गया। साधन से आदमी भला होता है। भजन किसे कहते हैं? प्रीति जागृत हो गयी-भजन हो गया। प्रीति की जागृति भजन कहलाता है। सर्वांश में बुराई-रहित होना-यह साधन कहलाता है। साधन का स्वरूप है-निर्विकारता,जीवन-मुक्ति। यह साधना है और प्रेम से रस-रूप जीवन की प्राप्ति होती है। प्रेम प्रभु के लिए रस-रूप है। प्रभु के काम आने के लिए प्रेम है। प्रेम से ही प्रभु को प्रसन्नता होगी। जीवन-मुक्ति से तुमको प्रसन्नता होगी और उदारता से जगत को प्रसन्नता होगी। यह शरीर-धर्म नहीं है। उदारता भी शरीर धर्म नहीं है, जीवन मुक्ति भी शरीर धर्म नहीं है, प्रेम भी शरीर-धर्म नहीं है। यह तो मनुष्य का अपना स्वधर्म है। मनुष्य का स्व-स्वरूप भी यही है-

उदारता, स्वाधीनता और प्रेम। इनकी प्राप्ति कैसे होती है भैया ? विश्राम से, अचाह और आत्मीयता से। आत्मीयता से प्रेम प्राप्त होता है। अचाह से जीवन–मुक्ति प्राप्त होती है। बिश्राम से चिर -शान्ति प्राप्त होती है। विश्राम कैसे प्राप्त होता है ? सेवा से, त्याग से। और तो कोई विश्राम का उपाय है नहीं। सेवा करो अथवा त्याग करो। तो सेवा और त्याग से विश्राम मिलता है। विश्राम से ही योग मिलता है। योग में ही बोध होता है। बोध में ही प्रेम होता है। इस तरह से हम और आप साधना से अभिन्न होते हैं।

मनुष्य का एक नाम साधक है। साधक का सत्संग स्वधर्म है। सत्संग से ही मनुष्य को साधना प्राप्त होती है। चाहे वह शान्ति के रूप में प्राप्त हो, चाहे वह भक्ति के रूप में प्राप्त हो, चाहे वह मुक्ति के रूप में। अथवा सेवा के रूप में हो, चाहे त्याग के रूप में हो, चाहे प्रेम के रूप में हो। यह साधना ही मनुष्य को प्राप्त होती है। और सेवा-त्याग-प्रेम ही मनुष्य के विकास का मूल-मंत्र है। अगर यह मंत्र आपको जंच जाय तो सद्भाव सभी के प्रति रखो और यथाशक्ति शरीर से किसी-न-किसी को सहयोग देते रहो बिना किसी प्रयोजन के। यह नहीं कि "जब मेरी बात चलेगी तब मैं सेवा करूंगा। अगर प्रबन्धक मेरी बात नहीं मानते हैं तो मैं सेवा नहीं करूंगा।" सोचो भाई! तब तो सेवा नहीं कर पाओगे। तब तो तुम अपनी बात मनवा कर अहं की पूजा करोगे। हाँ, अपना विचार प्रकट कर सकते हो कि मेरी समझ से यह बात अगर आप महानुभावों को जंच जाय तो ऐसा सोचिये। अगर वह विचार सत्य है तो दूसरे को जरूर जंचेगा। आज नहीं जंचेगा, कल जंचेगा। कल

नहीं जंचेगा, बरसों जंचेगा। एक दिन जंचेगा जरूर।

इसलिए भाई सेवा करो, बिना प्रयोजन के। हाँ, एक प्रयोजन सेवा से सिद्ध हो जायगा कि तुम में करने का जो राग है उसकी निवृत्ति हो जायगी। जैसे मुझमें बोलने का राग है तो सेवा-भाव से बोलने से बोलने का राग निवृत्त हो जायगा। तो विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए सेवा करनी पड़ती है और नवीन राग पैदा न हो, इसके लिए अकिंचन और अचाह होना पड़ता है। और भगवद्-स्मृति और प्रियता जागृत हो इसके लिए भगवान के साथ आत्मीय सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है। अब जैसी आपके व्यक्तित्व की बनावट हो, उसके अनुसार जिस बात का आपको अधिकार प्राप्त है उसको पूरा करो। मनुष्य साधक है। उसकी हर प्रवृत्ति साधना हैं। ऐसा नहीं हैं कि चुप रहना तो साधन है, बोलना साधन नहीं है, बोलना तो साधन है, चुप रहना साधन नहीं है। चुप रहना भी साधन है, बोलना भी साधन है, देखना भी साधन है न देखना भी साधन है। सुनना भी साधन है, न सुनना भी साधन है। सोचना-समझना भी साधन है। न सोचना न समझना भी साधन है। ये साधन के ही सब रूप हैं। इसीलिए साधना में हमारी अभिरुचि होनी चाहिए। साधना की तीव्र माँग होनी चाहिए। साधना हमको प्यारी लगनी चाहिए। वह अवश्य आपको प्राप्त हो जायगी और साधना ही तो आपको प्राप्त होती है और तो कुछ प्राप्त होता नहीं। साधना माने क्या? साध्य की अगाध प्रियता, साध्य से अभिन्नता, साध्य से अभेदता, साध्य की समीपता–यह सब साधना ही तो है। तो जैसी आपकी, जिस स्थिति की अपनी रुचि हो, सामर्थ्य हो, उसके अनुसार आप अपने जीवन में साधना की आवश्यकता अनुभव

करें। सुख भोग की रुचि का नाश करें, दुःख के भय का नाश करें।

जब जीवन में व्यक्ति-विश्वास नहीं रहता, वस्तु-विश्वास नहीं रहता तो प्रभु-विश्वास सजीव होता है और फिर प्रभु की अहैतुकी कृपा-शक्ति आवश्यक कार्य पूरा करती जाती है। अनावश्यक कार्य का नाश करती जाती है। यह प्रभु का मंगलमय विधान है। इसलिए हमें अपने विकास के लिए वस्तु–विश्वास, व्यक्ति–विश्वास को छोड़ना चाहिए। अब, जैसे हमारे बहुत से साधक हैं जो शरीर के बल पर शान्ति पकड़ना चाहते हैं। शरीर के बल पर शान्ति नहीं मिलेगी। सत्य को स्वीकार करने से शान्ति मिलेगी। कुछ लोग योग्यता के आधार पर शान्ति खरीदना चाहते हैं। तो योग्यता के सदुपयोग से शान्ति मिलेगी, योग्यता से शान्ति नहीं मिलेगी। कई लोग सम्पत्ति के आधार पर शान्ति सुरक्षित रखना चाहते हैं। तो सम्पत्ति से शान्ति नहीं मिलेगी, सम्पत्ति के सदुपयोग से शान्ति मिलेगी। जैसे सम्पत्ति के सदुपयोग से शान्ति मिलती है ऐसे ही विपत्ति के सदुपयोग से भी शान्ति मिलती है। प्रभु का बड़ा ही अनुपम विधान है, बड़ा ही मंगलकारी विधान है। विपत्ति आवे तो घबराना नहीं चाहिए कि अरे राम! विपत्ति आ गयी, अब हम साधन से वंचित हो गये। सो नहीं। विपत्ति के सदुपयोग से भी साधना मिलती है, साधना प्राप्त होती है। और सम्पत्ति के सदुपयोग से भी साधना प्राप्त होती है। हमें जो प्राप्त करना है उसका नाम है साधना। और साधना से क्या होता है? हम सब का जो साध्य है, अर्थात जिसको पाकर कुछ पाना शेष नहीं रहता, उससे दूरी-भेद-भिन्नता मिटती है। भैया, बड़े महत्व की बात है कि

साधना साध्य से दूरी नहीं रहने देती, साधना साध्य से भेद नहीं रहने देती । भिन्नता नही रहने देती है। तो उस जीवन से, जो हम सबका वास्तविक जीवन है, हमारी एकता हो सकती है।

देखो, जीवन शब्द का अर्थ भी परमात्मा ही है। जीवन माने क्या ? जिसका नाश न हो । जीवन माने क्या ? जिसमें चेतना हो । जीवन माने क्या ? जो रसरूप हो । परमात्मा किसे कहते है ? जो सत् हो, चित् हो आनन्द हो । तो जो परमात्मा शब्द का अर्थ है वही जीवन शब्द का अर्थ है। ऐसी बात है। इसलिए हम सबको जीवन मिल सकता है ।

एक बार मैं जे० कृष्णमूर्ति जी से बात कर रहा था। दिल्ली में ठहरे हुए थे वे । वे अंग्रेजी जानते थे, मैं हिन्दी जानता था और पण्डित रामेश्वर दयाल जो डिप्टी कमिश्नर थे, वे अनुबाद करते जाते थे। कृष्ण मूर्ति जी निषेधात्मक चर्चा करते हैं। उनका सिद्धान्त है-यह नहीं, यह भी नहीं, यह भी नहीं । हटाते हैं, स्वीकृति को मिटाते हैं। तो मैंने उनसे कहा कि आप स्वीकृति को मिटाते चले जाते हैं तो मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या आप अभाव को पसन्द करते हैं ? बोले– नहीं ! नहीं! ! नहीं! ! ! अभाव नहीं है 'लाइफ' है लाइफ।'तो हमने कहा भैया! आपने जिसको 'लाइफ' कह कर स्वीकार किया अगर मैं उसको 'भगवान्' करके स्वीकार करूँ, तो आपको क्यों आपत्ति होती है? तो भगवान् के खिलाफ जो आवाज उठती है न, वह तर्क से नहीं उठती है। वह आवाज उठती है भगवान् के मानने वालों के दुश्चरित्र से, और कोई बात नहीं है । भगवान् का मानने वाला अगर ठीक आदमी हो तो भगवान् के खिलाफ कोई बोल ही

नहीं सकता। ऐसे ही सत्य को मानने वाला ठीकआदमी हो तो सत्य के खिलाफ कोई बोल ही नहीं सकता। ऐसे ही जीवन को मानने वाला ठीक आदमी हो तो जीवन के खिलाफ कोई बोल ही नहीं सकता है, बोल ही नहीं सकता। यह बात समझ में आती है ? सोचो !

इसलिए मैं आपसे निवेदन करता हूँ, मानव सेवा संघ ने बड़ी सुन्दर बात कही–दर्शन अनेक यानी दृष्टिकोण अनेक, पर जीवन एक। जीवन अनेक नहीं हैं, जीवन एक है। और वही एक जीवन हम सबको मिल सकता है और उसी के लिए यह मानव जीवन मिला है। अगर यह बात आपको जंचती हो तो भाई डट जाओ। और देखो ! डट जाने का मतलब क्या है? यह तय करो, निर्णय करो कि यह हो ही नहीं सकता कि प्राणों के रहते-रहते मुझे जीवन न मिले। प्राणों के रहते-रहते मुझको जीवन मिलेगा ! शरीर पीछे छूटेगा, अमरपद पहले मिलेगा। शरीर पीछे छूटेगा, चिरशान्ति पहले मिलेगी। शरीर पीछे छूटेगा, प्रेमतत्व पहले मिलेगा। जीवन शरीर के रहते हुए मिल सकता है, इस बात में दृढ़ आस्था करो। सारी दुनिया कहे तो मत मानो। क्यों ? जिसमें तुम आस्था ही नहीं करोगे, उसमें तुम्हारी श्रद्धा कैसे होगी भाई ? क्या राय है? बिना आस्था के श्रद्धा होती है क्या ? और बिना श्रद्धा के विश्वास होता है क्या? और बिना विश्वास के सम्बन्ध होता है क्या ? और बिना सम्बन्ध के स्मृति और प्रियता जगती है क्या ? और बिना स्मृति --प्रियता के प्राप्ति होती है क्या? क्या राय है ?

इसलिए भाई ! इस बात में दृढ़ आस्था करो कि यदि एक

पल का भी समय रह गया है तो क्या? महाराज ! आजकल तो उस तरह का सत्संग ही नहीं होता। हमने बिना पढ़े-लिखे लोगों के मुँह से सत्संग की चर्चा सुनी है। वह पढ़े-लिखों के मुँह से निकलती ही नहीं। उन्हें मालूम ही नहीं है। बे-पढ़े लोग कहा करते थे देहातों में, गाँवों में-"अरे भाई ! फूल को तोड़ने में देर लगती है,बोध की प्राप्ति में देर नहीं लगती। घोड़े की रकेब में पांव रखने में देर लगती है, भगवान् के मिलने में देर नहीं लगती।" यह हमने बेपढ़े-लिखों के द्वारा सुना। एक बार एक पढ़े-लिखे के द्वारा सुना कि भाई देखो ! भगवान् की प्राप्ति में काल अपेक्षित नहीं है। यह पण्डितों की भाषा है। क्यों नहीं है ? क्योंकि श्रम साध्य नहीं है। श्रम-साध्य वस्तु के लिए काल अपेक्षित होता है। वस्तु के उत्पादन के लिए काल अपेक्षित है न कि भगवत्-प्राप्ति के लिए।

तो जो इतना हम सबका अपना है कि जिसकी प्राप्ति के लिए काल की अपेक्षा ही नहीं है, उसमें हमें निराश नहीं होना चाहिए। उसके लिए नित-नई उत्कंठा बढ़नी चाहिए। उत्कंठा नित नई कि जीवन मुझे जरूर मिलेगा,जरूर मिलेगा। महाराज! यह उत्कंठा जो है, इसमें बड़ी शक्ति है, इसमें बड़ी ताकत है। इसलिए भाई, निराश नहीं होना चाहिए। और अनेक बातों को जीवन में नहीं रखना चाहिए। अनेक बातों को सुनना चाहिए और उसमें जो बात अपने को अच्छी लगे उसको मानना चाहिए। क्यों ?आज कोई पढ़ा-लिखा आदमी हमको धमका देगा, डांट देगा और कह देगा कि "अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" । अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त होती है। अरे भाई ! तुम्हारे पास चिट्ठी लिख कर आयी है कि यह पहला जन्म है या अन्तिम जन्म है ?

श्रोता–जी ! लिख कर तो आया नहीं है ।

इसलिए मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि जो भोली-भाली तबियत के आदमी हैं, जो सरल विश्वासी हैं, सहज विवेकी हैं, उन को जल्दी सफलता मिलती है । ज्यादा पढ़े-लिखों को देर लगती है । आप विचार करके देखो ! हम लोग सोचते हैं कि आज पूर्णमासी का दिन है, चलो गंगा स्नान कर आयें । तो हम भिखारी लोग जब गंगा नहाने जाते हैं तो गंगा भी नहाते हैं और पूड़ी-मिठाई भी खाते हैं। लेकिन सेठ-साहूकार को कुछ मिलता है या देना पड़ता है ?

श्रोता–देना पड़ता है ।

इसलिए जो ज्यादा योग्य होता है वह भगवान से देर में मिलता है और जो अल्प-योग्यता वाला है, अल्प सामर्थ्य वाला है वह भगवान से जल्दी मिलता है । क्योंकि भगवान तो सभी का है । अगर अल्प-सामर्थ्य वालों का न होता और विशेष-सामर्थ्य वालों का होता तो हमें सामर्थ्य के लिए चिन्ता करनी चाहिए थी । सुन रहे हैं ध्यान से आप लोग ? अगर भगवान अल्प सामर्थ्य वालों के लिए न होता तो हमें सामर्थ्य की चिन्ता करनी चाहिए । लेकिन वह तो सभी का है ।

तो सत्य सभी का होने से अल्प-सामर्थ्य वालों को अल्प साधना से मिलता है,विशेष-सामर्थ्य वालों को विशेष साधना से मिलता है । देखो ! एक सेठ को जो मोटर मिलती है वह हजारों रुपये खर्च करने पर मिलती है और ड्राईवर को ? उल्टा रुपया मिलता है । मोटर भी बैठने को मिलती है और रुपया भी मिलता है । अब पता लगाओ,किसी से पूछना जाकर कि मोटर

में बैठने में बड़ा मजा आता है तो ड्राइवर ज्यादा देर बैठता है कि सेठ ज्यादा देर बैठता है बोलो ? मोटर ड्राइवर के हाथ में रहती है या सेठ के हाथ में रहती है ?

श्रोता–ड्राइवर के हाथ में रहती है।

इसलिए भैया, वह परमात्मा-रूपी जो अनन्त तत्व है वह हर भाई को, हर बहिन को मिल सकता है। उससे निराश नहीं होना चाहिए। और सुख-दुःख जो है यह साधन-सामग्री है, इसको जीवन नहीं मानना चाहिए।

———

११

(अ)

मनुष्य के व्यक्तित्व में एक ओर अप्राप्त की कामनाएँ होती हैं तो दूसरी ओर सत्य की जिज्ञासा एवं परम प्रेम की माँग भी रहती है।

(१) कामनाओं की उत्पत्ति भूल जनित है, इसलिए उनकी निवृत्ति होती है।

(२) माँग स्वभाव जनित है, इसलिए इसकी पूर्ति अवश्यम्भावी है।

उपाय बताया गया है—विश्राम, हरि आश्रय और स्वाश्रय। जीवन के प्रति जागरूक भाई-बहिन चाहें तो कामना निवृत्ति कर सकते हैं, तथा चिर-विश्राम पा सकते हैं। इस विषय पर विशद विवेचन प्रस्तुत प्रवचन में मिलेगा।

—:—o—:—

प्रवचन :

जीवन का सत्य क्या है ? यह बात सभी को मान्य होगी कि सभी कामनायें आज तक कभी किसी की पूरी नहीं हुई और कुछ कामनायें सभी की पूरी हुई। इससे सिद्ध होता है कि कामना से कामना पूरी नहीं होती, किसी विधान से कामना पूरी होती है। कामना-पूर्ति का अर्थ क्या है ?–सुख का भोग। अपूर्ति का अर्थ क्या है ?–दुःख का भोग। यह जो सुख-दुःख जीवन में दिखाई देता है, कामना पूर्ति–अपूर्ति के द्वारा है, तो यह सुख-दुःख साधन-सामग्री है। साधन-सामग्री को भोग-सामग्री बना लेना यह हमारी अपनी भूल है।

अब जैसे, मान लीजिए कोई आदमी, आप जिस अर्थ में लेते हो उसी अर्थ में लें, बहुत बड़ा कामी है। यदि उसके हृदय में सही अर्थ में किसी से प्यार उत्पन्न हो जाय, तो काम नाश हो जायगा। क्योंकि प्यार में रस है। और जब जीवन में रस आ जाता है तो काम नाश हो जाता है। ऐसा नियम है। इसलिए उसको (काम को) प्यार में बदलो। अब प्यार में कैसे बदला जाय ? अगर बोलो, तो प्यार भरी वाणी से बोलो। सुनो तो प्यार भरे कानों से सुनो। देखो तो प्यार भरी आँखों से देखो। यानी आपकी हर प्रवृत्ति में प्यार का पुट आ जाय। एक तो यह तरीका है और दूसरा तरीका है कि वास्तव में प्रेम का दान मानव कर सकता है और प्रेम का पान भगवान कर सकता है। परमात्मा को छोड़ कर और कोई प्रेम का पान कर नहीं सकता।

और मानव को छोड़कर अन्य कोई प्राणी प्रेम का दान दे नहीं सकता। क्योंकि अन्य सब योनियाँ भोग योनियाँ हैं। जैसे पशु-पक्षी भोग योनि हैं, वैसे ही देव-योनि भी भोग योनि है। तो भोग योनि जिसको मिली हुई है वह प्रेम का दान नहीं कर सकता। मानव क्यों कर सकता है? मानव में विवेक का प्रकाश है। वह इस बात को अच्छी तरह जानता है कि सुख के भोगी को कालान्तर में भयंकर दुःख भोगना पड़ता है। यह जो उसका ज्ञान है, इस ज्ञान के प्रभाव से अगर वह चाहे तो सुख–भोग की रुचि को मिटा सकता है। इसी के साथ–साथ एक दूसरी बात बड़ी जबर्दस्त है। जिस प्रकार से सुख के भोगी को दुःख भोगना पड़ता है, उसी प्रकार अगर कोई योगी है तो सुख-भोग की रुचि से मुक्त हो जाता है।

अब योगी कौन है? इस पर अगर विचार किया जाय तो यह मालूम होता है कि जिसे पराश्रय-परिश्रम से रहित हरि आश्रय और विश्राम के द्वारा जो जीवन है, वह जीवन जिसे पसन्द है, वह योगी है। योग का उपाय क्या है? हरि आश्रय और विश्राम। बताओ हरि आश्रय लेने में हम और आप परा–धीन हैं क्या? विश्राम में कोई पराधीन है क्या? लेकिन जब तक हम हरि-आश्रय नहीं लेते, विश्राम प्राप्त नहीं करते तब तक योग की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए पराश्रय और परिश्रम के द्वारा तो सेवा करें। पराश्रय जब अपने पास हो, जैसे वस्तु का आश्रय, योग्यता का आश्रय, सामर्थ्य का आश्रय, तो इसके द्वारा तो पर-सेवा करें। और, अपने लिए हरि-आश्रय स्वीकार करें कि हमें तो प्रभु के ही आश्रित रहना है। और किसी के आश्रित नहीं रहना है। क्योंकि और कोई ऐसा है नहीं जो सदा

सदा के लिए हमें अपना सके और हम जिसके साथ रह सकें। परमात्मा के मानने की जरूरत क्यों पड़ती है ? केवल इसलिए पड़ती है कि सदा-सदा के लिए रहने वाला कोई साथी मिलता नहीं संसार में। है कोई साथी ?

श्रोता–नहीं।

यह तो हुई एक बात। दूसरी बात है कि विश्राम की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि श्रम के द्वारा शक्ति का ह्रास होता है, शक्ति का संचय नहीं होता। और शक्तिहीनता किसी को पसन्द नहीं। इसलिए विश्राम की जरूरत है।

तो जीवन में बड़े ही मूल्यवान तत्व क्या हैं ?–हरि आश्रय और विश्राम। अब अगर आपको परमात्मा में आस्था न हो, जीवन के विज्ञान में आस्था न हो; क्योंकि विश्राम सिद्ध होता है विज्ञान से। क्यों ? क्योंकि श्रम से शक्तिहीनता आती है, शक्ति प्राप्त तो होती नहीं, और विश्राम से शक्ति संचित होती है। यह विज्ञान है जीवन का। तो विज्ञान से यह बात सिद्ध है कि विश्राम बहुत आवश्यक है। और आस्था से यह बात सिद्ध है कि हरि–आश्रय बहुत आवश्यक है। अगर आज का साधक हरि-आश्रय और विश्राम अपना ले तो बड़ी सुगमता पूर्वक जीवन की समस्याओं को हल कर सकता है हरि-आश्रय और विश्राम से। अब कोई कहे साहब, हमको तो ईश्वर में विश्वास ही नहीं होता। मान लो कोई ऐसा निकल आये, ऐसे भी लोग हो सकते हैं न ! तो जो यह कहे कि मुझे ईश्वर में विश्वास नहीं होता तो उससे यह पूछना चाहिए कि भाई ! तुमको अपने में विश्वास होता है कि नहीं ? अगर वह कहे कि अपने में होता है, तो

भैया! "स्वआश्रय" और विश्राम ले लो। और अगर कोई कहे कि हमको तो अपने का पता ही नहीं, हमको तो अपने में भी विश्वास नहीं होता और हरि में भी नहीं होता। तो भैया! तुमको कर्तव्य में विश्वास होता है कि नहीं? क्या तुम यह नहीं चाहते हो कि दूसरों के द्वारा तुम्हारे अधिकार सुरक्षित हों। क्या राय है? अगर कर्तव्य में विश्वास होता है तो भाई, तुम धर्म का आश्रय ले लो। कर्तव्य माने धर्म, धर्म माने कर्तव्य। तो धर्म के आश्रय से भी हमें योग की प्राप्ति होती है। "स्व" के आश्रय से भी हमें योग की प्राप्ति होती है और हरि के आश्रय से भी हमें योग की प्राप्ति होती है। आप कहेंगे कैसे? दूसरों के अधिकार की रक्षा करने से विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग पैदा नहीं होता। राग-रहित होने से ही योग की प्राप्ति होती है। तो धर्मात्मा होने पर भी हम योगवित् हो सकते हैं। और स्व आश्रय! स्व-आश्रय का अर्थ होता है-मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। पराश्रय में तो मेरा है, कुछ चाहिए न! स्वआश्रय में मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। तो इससे भी मनुष्य रागरहित होता है; योग की प्राप्ति होती है। और हरि आश्रय से भी मनुष्य राग-रहित होता है और योग की प्राप्ति होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि योग की प्राप्ति हर भाई को, हर बहिन को हो सकती है। इससे निराश होने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है।

अगर आप इस बात को मान लें कि मुझे योग की प्राप्ति हो सकती है तो योग की माँग सबल हो जायेगी कि नहीं? जिसकी प्राप्ति में सन्देह नहीं होता उसकी माँग सबल होती है

और जब भोग की माँग सबल हो जायेगी तो योग की रुचि नाश नहीं हो जायेगी क्या ? देखो, योग की माँग है अग्नि और भोग की रुचि है काष्ठ। तो जब अग्नि प्रज्वलित होती है तो काष्ठ भस्मीभूत हो जाता है कि नहीं ? और जब काष्ठ भस्मीभूत हो जाता है तो अग्नि अपने आप बुझ जाती है कि नहीं ? तो योग की मांग भोग की रुचिरूपी काष्ठ को भस्म करके स्वतः पूरी हो जाती है; अर्थात् मिट जाती है। जहाँ माँग पूरी हो गयी और राग निवृत्त हो गया उस जीवन में चिर-शान्ति है, जीवन-मुक्ति है, भगवद् भक्ति है। ऐसा है। इसलिए, हमें इस समस्या को अपने सामने रख कर सोचना चाहिए कि हमारे जीवन की सबसे बड़ी समस्या क्या है ? तो सबसे बड़ी समस्या यही है कि हम भोग की रुचि को लेकर अभाव में, अशान्ति में, नीरसता में, पराधीनता में जो आबद्ध होते हैं सो न हों। हमारे जीवन से अभाव, पराधीनता, अशान्ति और नीरसता का नाश हो जाय। तो कैसे नाश होगी? योग की माँग से। और योग की माँग पूरी होती है। योग की प्राप्ति में कोई भी मानव पराधीन और असमर्थ नहीं है। क्यों नहीं है ? इसलिए कि योग अपने से होता है और बिना श्रम के होता है, बिना प्रयत्न के होता है बिना कोशिश के होता है। अब आप विचार करके देखो, बिना प्रयत्न, बिना कोशिश जो चीज मिलती है उससे भी निराश होना चाहिए क्या ?

श्रोता–निराश तो नहीं होना चाहिए।

नहीं होना चाहिए न ! तो जिससे निराश नहीं होंगे तो उसकी माँग जगेगी।

अब यहाँ कठिनाई क्या पड़ती है आकर कि हम लोगों को

इस बात में विश्वास नहीं होता कि बिना श्रम के, बिना प्रयत्न के योग हो सकता है। योग के लिए लोग कहते हैं यह करो, वह करो। तो करना योग के लिए नहीं है। करना जो होता है वह विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए होता है। और राग-निवृत्ति से योग प्राप्त होता है। जैसे विद्यमान राग जो अपने में दिखाई देता है किसी प्रकार का, अपना-अपना अलग-अलग होगा न सबका! तो जिस राग को तुम विचार से नहीं मिटा सकते उस राग को मर्यादा से पूरा करो। इसीलिए ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ आश्रम का नम्बर आता है। भाई, तुम योग्यता सम्पादन करके, शारीरिक-बौद्धिक विकास करके जब कुछ करने लायक हुए और तुमने देखा कि हमारे मन में भोग की रुचि है, जिसको कि हम विचार से नहीं मिटा सके या नहीं मिटा सकते तो एक मर्यादा बना दी कि भाई, अमुक-अमुक मर्यादा से इस भोग की रुचि को पूरा करो। और पहले विधान बना दिया कि देखो! तुम अगर स्त्री की आवश्यकता अनुभव करते हो तो फिर यह सोचो कि स्त्री तुमसे जितना प्यार करे उससे दुगना तुम उसको दो। यह विधान बना दिया। अच्छा, बच्चा पैदा करते हो तो अपने से योग्य बनाने का प्रयास करो। यह कानून है। और कहा कि भाई देखो! समाज की रोटी खाते हो तो समाज का वह भाग (अंग) जो कि कमा नहीं सकता, जैसे बालक और रोगी–उसको खिलाकर खाओ। अब यह कानून लगा दिया न! खाओ, पियो, मौज करो–यह तो नहीं कहा। धन कमाते हो तो समाज के वे लोग जो कमा नहीं सकते, जैसे बालक है, रोगी है अथवा कोई सेवा में रत है। जैसे गाँधी जी सेवा में रत हुए तो वे कमा कर थोड़े ही खा सके। अच्छा कोई सत्य की खोज में डूबा हुआ है, वह भी उपार्जन नहीं कर सकता। तो, महान विरक्त हो,

सेवा परायणहो, रोगी हो और बालक हो। तो भाई देखो ! तुम कमाने-खाने वाले जो लोग हो, पहले इनको खिला कर तब खाओ। तो इसमें संयम आयेगा कि नहीं ? अच्छा, इसमें भी एक समय-विभाग बना दिया। यह नहीं कि सारी जिन्दगी ऐसा करो। जैसे जीवन का १/४ भाग गुणों के सम्पादन के लिए रखा गया था, ऐसे ही १/४ भाग केवल मर्यादित भोग के लिए और १/४ भाग है केवल सेवा के लिए और शेष १/४ है त्याग के लिए। तो जीवन को चार भागों में बाँटो–गुणों का विकास, मर्यादित भोग, सेवा और त्याग। इन्हीं बातों को बताने के लिए चारआश्रम बना दिये गये। और अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सेवा करो, इस आधार पर वर्ण बना दिये गये।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि वर्ण और आश्रम जो बनाये गये थे, वह मर्यादा के अनुरूप अपने राग की निवृत्ति के लिए एक प्रणाली बनायी थी। आज हमसे क्या भूल होती है कि जब भोगने की शक्ति नहीं रहती, तब भी भोग की रुचि रहती है। यह हमारी सबसे सोचनीय दशा है, भोगने की शक्ति तो है नहीं और भोग की रुचि है। तो ऐसी दशा में हमें बहुत ही गम्भीरता से, धीरज से यह देखना चाहिए कि क्या भोग जीवन का लक्ष्य है। तो पता चलेगा कि लक्ष्य तो नहीं हैं। भोग जीवन का लक्ष्य नहीं है; जीवन का लक्ष्य है योग। तो हम अगर अपने लक्ष्य को न भूलें और अपने कर्तव्य को न भूलें तो अवश्य सफलता मिलेगी। हम से गलती यह होती है कि हम अपने लक्ष्य को भी भूल जाते हैं और अपने कर्तव्य को भी भूल जाते हैं। कर्तव्य उसे नहीं कहते जिसे हम कर नहीं सकते। लक्ष्य उसे नहीं कहते जिसकी उपलब्धि हो नहीं सकती। लक्ष्य उसी को

कहते हैं जिसकी उपलब्धि होती है। कर्तव्य उसी को कहते हैं जिसे हम कर सकते हैं। हम क्या कर सकते हैं ? हम सेवा कर सकते हैं, हम त्याग कर सकते हैं, हम प्रेमी हो सकते हैं। आप कहेंगे कि साहब, हो तो सकते हैं, पर होते नहीं। नहीं होते तो यह आपकी अपनी मर्जी हुई न ! जो बात आप कर सकते हैं और न करें, उसमें दूसरा आपकी क्या मदद करेगा ?

सेवा का अर्थ हमारे यहाँ क्या बताया गया है ? सेवा का अर्थ बताया है, मन-वाणी-कर्म से बुराई रहित हो जाओ। यह विश्व की सेवा हो गयी और यथाशक्ति भलाई कर दो यह समाज की सेवा हो गयी। भलाई का फल छोड़ दो, यह अपनी सेवा हो गयी। और प्रभु को अपना मान कर स्मृति और प्रियता जगा लो, यह प्रभु की सेवा हो गई। तो मनुष्य विश्व की भी सेवा कर सकता है, अपनी भी कर सकता है, समाज की भी कर सकता है और परमात्मा की भी कर सकता है। सेवा करने की स्वाधीनता मनुष्य-मात्र को प्राप्त है। अब अगर वह करना ही न चाहे तो अलग बात है। सेवा में बाधा क्या है ? कहना होगा रुचि-पूर्ति। आवश्यकता पूर्ति तो होती ही है, रुचि-पूर्ति की बाधा है। अब सोचो, आपको रुचि पूर्ति करना है क्या ! अगर आप को रुचि पूर्ति करनी है तो अन्त में रुचि ही शेष रहेगी, पूरी नहीं होगी। तब क्या करोगे ? यानी जो होगा ही नहीं उसको करने की सोचते रहोगे। यहीं हम भूल कर जाते हैं। हम यह सोचते हैं कि एक बार रुचि की पूर्ति हो गई तो फिर हो जाय, दुबारा हो जाय, तिबारा हो जाय। अनेक बार रुचि पूर्ति हुई, तब भी हम रुचि का पीछा नहीं छोड़ते। अन्त में रुचि ही शेष रह जाती है और पूरी करने की शक्ति रहती

नहीं । कितना दुःख होगा उस समय ! तो क्या जीवन का यह चित्र आपको पसन्द है कि रुचि बनी रहे और पूर्ति की सामर्थ्य न रहें। बोलने की रुचि बनी रहे, बोलने की सामर्थ्य न रहे। सुनने की रुचि बनी रहे,सुनने की सामर्थ्य न रहे। देखने की रुचि बनी रहे. देखनें की सामर्थ्य न रहें। स्पर्श करने की रुचि बनी रहे, स्पर्श करने की सामर्थ्य न रहे। सामर्थ्य नहीं है और रुचि है, इससे बढ़ कर और कोई जीवन का बुरा समय हो सकता है क्या ?क्या राय है ?

श्रोता–नहीं हो सकता ।

अतः रुचि पूर्ति का जीवन में कोई स्थान नहीं है। हाँ, आवश्यकता पूर्ति का स्थान है। अगर आपको भूख लगी है तो शारीरिक हित की दृष्टि से भोजन कीजिए। भोजन विज्ञान के अनुसार भोजन कीजिए। लेकिन आप भोजन के विज्ञान को भूल जायं, शारीरिक हित को भूल जायं, और भोजन का स्वाद लेने के लिए भोजन करें तो क्या होगा ! आगे क्या दशा हो जायेगी ?आगे यह दशा हो जायेगी कि भोजन रखा है तो भूख नहीं है और भूख है तो भोजन नहीं है। यह स्थिति आयेगी ही, बचेगी नहीं, किसी के रोकने से रुकी नहीं आज तक ।

इसीलिए भाई, रुचि पूर्ति के प्रलोभन को छोड़ना ही होगा। और माँग पूर्ति में अविचल आस्था करनी ही होगी। मांग योग की है, रुचि है भोग की। भोग की रुचि को या तो विचार से मिटाना होगा, अथवा मर्यादित भोग से उससे ऊपर उठना ही होगा। तीसरी बात तो हो नहीं सकती। या तो मर्यादित भोग करते हुए भोग से ऊपर उठ जाओ, या विचार से

रुचि को मिटाओ। और अगर आप रुचि पूर्ति के परिणाम के दुःख से आप दुःखी हैं तब भी रुचि नाश हो जायगी। क्योंकि रुचि पूर्ति का परिणाम दुःखद जरूर होता है। ऐसी कोई रुचि-पूर्ति नही हैं कि जिसका परिणाम दुःखद न हो। हमको हमारे मित्र एक घटना सुना रहे थे। छोटे बच्चे थे तब वे। उनके पिता थे तहसीलदार। अब उनका भी शरीर नहीं रहा विचारों का, उनके बाप का भी नहीं रहा। उनको रबड़ी बहुत अच्छी लगती थी। तो घर से रुपये ले गये। छोटी अवस्था थी। दुकान-दार से कहा कि रबड़ी दे दो। उस जमाने में एक रुपये की चार-पाँच सेर रबड़ी आती थी - चार सेर तो आती ही थी किसी जमाने में। दो सेर तो बहुत जमाने तक रही है। तो थाल भर कर रख दिया आंगन में और बैठ कर खाने लगे। खाते–खाते, खाते-खाते उनको उल्टी आ गयी। वे कहते थे कि उस दिन से स्वामी जी, आज तक हमको रबड़ी खाने का जी नहीं हुआ। ऐसा है। तो भोग से अरुचि तो होती ही है। एक यह प्राकृतिक नियम भी है। भोग से अरुचि न हो ऐसा कभी होता नहीं। लेकिन उस अरुचि के प्रभाव को हम नहीं अपनाते। और भोग का आरम्भ काल जो सुखद होता है, उस सुखद प्रतीति को पकड़ लेते हैं कि, रबड़ी खायी बड़ा मजा आया। तो मैं यह आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि रुचि पूर्ति-जीवन का लक्ष्य नहीं है, मांग पूर्ति जीवन का लक्ष्य है।

रुचि का ही नाम काम है और काम का ही नाम रुचि है। यानी किसी वस्तु का आकर्षण है तो भी काम है, किसी व्यक्ति का आकर्षण है तो भी काम है, किसी परिस्थिति का आकर्षण है तब भी काम है, किसी अवस्था का आकर्षण है तो भी काम है।

काम का व्यापक अर्थ लेना चाहिए। हमसे गलती यह होती है कि हम काम का सीमित एक देशीय अर्थ लेते हैं, सो मत लो। जहाँ तक संसार की सत्यता और सुन्दरता का भास है, वहाँ तक काम ही काम है। इसलिए हमें शरीर की, संसार की सत्यता पर विचार करना चाहिए कि यह सत्य है अथवा नहीं। सुन्दरता पर विचार करना चाहिए कि सुन्दर है अथवा नहीं। तो न शरीर में सत्यता है, न संसार में सत्यता है, न शरीर में सुन्दरता है, न संसार में सुन्दरता है। यह तो हमारे प्रमाद से हमें संसार और शरीर सुन्दर मालूम होता है, सत्य मालूम होता है। परन्तु सत्य है क्या? क्या राय है? शरीर और संसार सत्य मालूम होता है पर सत्य है क्या?

श्रोता–सत्य नहीं है।

तो जो सत्य नहीं है उसको सत्य मत मानो, अपितु सत्य की खोज करो। लेकिन शरीर और संसार से ऊपर उठे बिना सत्य की प्राप्ति होती है क्या? अच्छा, शरीर और संसार से ऊपर उठने के लिए कौन सी चीज अपेक्षित है? इस पर विचार करो। शरीर और संसार की वास्तविकता का ज्ञान। शरीर का वास्तविक ज्ञान हो जाय, संसार का वास्तविक ज्ञान हो जाय, तो ज्ञान का एक बड़ा भारी प्रभाव होता है कि अगर वह वस्तु असत्य है तो उसकी निवृत्ति हो जायगी और सत्य है तो प्राप्ति हो जायगी। एक ज्ञान के दो परिणाम होते हैं। तो अगर आपको अपने ज्ञान के प्रकाश में यह दिखाई दे कि शरीर और संसार सत्य है तो उसकी प्राप्ति हो जानी चाहिए तुमको। और अगर यह अनुभव हो कि असत्य है तो निवृत्ति हो जानी चाहिए। तो ज्ञान से ही काम की निवृत्ति होती है और किसी अन्य प्रकार से

निवृत्ति नहीं होती। ओर जिस ज्ञान से काम की निवृत्ति होती है वह ज्ञान का प्रकाश आपको स्वतः प्राप्त है। देख लीजिए चाहे जब।

एक कहानी होगी, घटना होगी अथवा कल्पना होगी, भगवान जाने। कोई व्यक्ति किसी युवती को बड़े गौर से देख रहे थे। बड़े गौरसे ! युवती बड़ी समझदार थी। उसने कहा– "जो गैरों की सूरत परहोते हैं शैदा, वो दुनिया में रंजो-अलम देखते हैं।" और वह देखने वाले भी बड़े समझदार थे। उन्होने जवाब दिया "न तुझसे है मतलब न सूरत से तेरी, मुसव्वर की हम तो कलम देखते हैं।" अब शरीर और संसार की सुन्दरता को देख कर यदि उसके कारीगर पर दृष्टि चली जाय तो उसका भोग बनेगा क्या ? नहीं बनेगा। तो यहाँ से शुरू करो। और अगर तुम्हें शरीर से असत्यता और असुन्दरता का भास हो जाय......। देखिये लोग गलत कहते हैं कि साहब, अमुक स्त्री को देखकर काम पैदा हो गया अथवा कोई स्त्री कहे कि अमुक पुरुष को देख कर काम पैदा हो गया। ऐसा नहीं होता। काम की उत्पत्ति का कारण है अपने शरीर की सत्यता और सुन्दरता का भान। जिसको अपने शरीर में सत्यता और सुन्दरता दिखाई देती है,उसी में काम पैदा होता है। तब कहता है अच्छा, अब इसको ऐसे कपड़े पहनाओ, ऐसे आभूषण पहनाओ। तो जब शरीर सत्य है तो कपड़े भी सत्य मालूम होंगे, आभूषण भी सत्य मालूम होंगे और फिर कोई साथी चाहिए तो वह भी सत्य मालूम होगा। फिर परिस्थिति चाहिए तो वह भी सत्य मालूम होगी। इस प्रकार शरीर की सत्यता-सुन्दरता के द्वारा ही सारे संसार की सत्यता और सुन्दरता में हम आबद्ध

हो जाते हैं। और शरीर कैसा है, यह तो आप जान सकते हैं न! जी! देख रहे हैं कि नहीं! जैसा ऊपर दिखता है वैसा भीतर है क्या ?

श्रोता–बिल्कुल नहीं है।

तो अगर आप भीतर की चीज को देखते रहें, और ऊपर की चीज के प्रभाव को मिटा दें, तब सत्यता रहेगी, सुन्दरता रहेगी ? क्या राय है ? न सत्यता रहेगी न सुन्दरता रहेगी। अगर काम का सर्वांश में नाश करना है तो अपने शरीर की सत्यता और सुन्दरता पर विचार करो। अगर शरीर सत्य और सुन्दर न सिद्ध हो तो काम का नाश हो जायगा। एक तो यह मार्ग है, यह तो विचार का मार्ग है। और एक दूसरा मार्ग यह है कि अगर आपको बिना देखे प्रभु में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास हो जाय और उसका प्यार पैदा हो जाय, तो प्यार से भी काम नाश होता है। और विचार से भी काम नाश होता है। बाकी और किस-किस प्रकार से काम नाश होता है वे तो अनेक उपाय हैं, पर मूल यही दो उपाय हैं।

तो प्यार करना भी आपको आता है और विचार करना भी आपको आता है। जब प्यार करना और विचार करना दोनों आता है तो शरीर और संसार की सत्यता और सुन्दरता का नाश हो सकता है, नीरसता मिट सकती है। और जो वास्तव में सत्य है, जो वास्तव में शिव है, जो वास्तव में सुन्दर है—सत्यम् शिवम् सुन्दरम्—यानी जिसका कभी नाश नहीं होता, जो कल्याण-स्वरूप है, जिसमें अनन्त सौन्दर्य है, उसकी

माँग से भी काम नाश हो जाता है। और संसार की वास्तविकता का अनुभव करने से भी काम का नाश हो जाता है। और काम नाश होने से राम मिल जाता है। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है।

—: o :—

११

(ब)

मनुष्य के जीवन में दो प्रकार की समस्याएँ उठती हैं—एक तो यह कि संसार में कुशलता पूर्वक शरीर का निर्वाह कैसे हो और दूसरी यह कि संसार के बन्धन से मुक्त होकर अपने को अविनाशी रसरूप जीवन कैसे मिले।

प्रस्तुत संत-वाणी में यह बताया गया है कि प्रत्येक मनुष्य को स्वधर्म और शरीर धर्म का पालन करना चाहिये।

किसी को किसी प्रकार से क्षति न पहुँचाना, यथा सम्भव सर्व हितकारी कार्य में शारीरिक शक्ति लगाना और सब के प्रति सद्भाव रखना, यह शरीर धर्म है। इससे राग निवृत्ति होती है। शरीर और संसार को अपना न मानना, इनसे अपने लिये कुछ न चाहना तथा सर्व समर्थ प्रभु को अपना मानना यह स्वधर्म है। स्वधर्म के पालन से योग, बोध और प्रेम से अभिन्नता होती है।

—:०:—

प्रवचन :

जिसका सम्पादन अपने द्वारा हो, उसमें केवल तीन बातें हैं। पहली बात है–ज्ञान के प्रकाश में अनुभव करें कि सृष्टि में मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं हैं, अर्थात् मेरा कुछ नहीं है। यह पहली बात। दूसरी बात है कि ज्ञान पूर्वक इस बात को स्वीकार करें कि सभी कामनायें पूरी नहीं होतीं। अर्थात् मुझे कुछ नहीं चाहिए ! और तीसरी बात है, आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक हरिआश्रय अर्थात् प्रभु ही केवल अपने हैं, अभी हैं, अपने में हैं। इन तीन प्रकार के व्रतों को स्वीकार करना मानव का स्वधर्म कहलाता है। इसके पालन···करने में कोई भी मानव कभी भी पराधीन नहीं है। अगर आपको कोई कठिनाई इन तीन बातों के मानने में मालूम होती हो तो प्रश्न करो, उसका समाधान हो जायगा। कोई भी कठिनाई किसी भाई को मालूम होती हो ! व्यक्तिगत कुछ नहीं है इस बात को मानने में, अचाह होने में अथवा हरिआश्रय लेकर निश्चिन्त और निर्भय होने में कोई कठिनाई मालूम होती हो तो आप प्रश्न कर सकते हैं। वास्तव में कोई कठिनाई है नहीं। हाँ, अगर आपको केवल सुख-दुःख का भोग करना है, तब तो इस स्वधर्म की आवश्यकता नहीं है। जिसे सुख की दासता और दुःख के भय से रहित होना है, उसके सामने यही उपाय और पुरुषार्थ है, जिसको कि उसे करना चाहिए। इसी को कहते हैं स्वधर्म अथवा सत्संग। सत्संग इन तीन ही बातों का नाम हैं। अब शरीरधर्म क्या है ? जो सत्संग का दूसरा भाग है। शरीर धर्म केवल दो बातों में है–सभी के

प्रति सद्भाव और यथाशक्ति सहयोग। दूसरों के प्रति सहयोग और सद्भावना रखना–यह शरीर धर्म है। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए–ये स्वधर्म है। इन दोनों प्रकार के धर्मों का अनुष्ठान करने में मानव सर्वदा स्वाधीन है। कभी भी पराधीन नहीं है, असमर्थ नहीं है। अगर आपको कोई पराधीनता और असमर्थता मालूम होती है तो विचार करो।

अब आप एक बात कह सकते हैं कि भाई देखो, यह बात तो ठीक है कि ज्ञान के प्रकाश में यह सत्य है कि व्यक्तिगत किसी का कुछ नहीं है और सभी कामनायें पूरी नहीं होती हैं। यह बात ठीक है। परन्तु आप कहते हैं कि हरि आश्रय ले लो! तो हमने उसको कभी देखा नहीं, समझ में आया नहीं, इन्द्रिय-गोचर हुआ नहीं। अतः हरि आश्रय कैसे ले लें! इसके लिए मानव सेवा संघ की प्रणाली में यह बात बताई जाती है कि भाई गुरु–वाणी और वेदवाणी के आधार पर प्रभु के अस्तित्व को, महत्व को और अपनत्व को स्वीकार करो। इसमें बुद्धि का प्रयोग नहीं है, इन्द्रियों का प्रयोग नहीं है, शरीर का प्रयोग नहीं है। परमात्मा को आप हाथ से नहीं पकड़ पायेंगे। परमात्मा को आप आँख से नहीं देख पायेंगे। साधक की आरम्भिक अवस्था की बात है यह। आँख से नहीं देख पायेंगे, हाथ से नहीं पकड़ पायेंगे। लेकिन परमात्मा है। क्यों है? प्रथम तो हमको माँग है। हमारी माँग में परमात्मा है। हमारी मांग क्या है? हमें अविनाशी, स्वाधीन, चिन्मय, रसरूप जीवन चाहिए, जो संसार में मिल ही नहीं सकता। तो हमारी मांग में परमात्मा है और गुरुवाणी और वेद–वाणी में परमात्मा है। अगर आपको गुरुवाणी में विश्वास नहीं होता, वेदवाणी में विश्वास

नहीं होता तो अपनी माँग में विश्वास करके परमात्मा की आवश्यकता अनुभव करें। परमात्मा की आवश्यकता अनुभव करें। परमात्मा की आवश्यकता अनुभव तो सभी में बीज रूप से मौजूद ही है। लेकिन हम स्वयं अनुभव करें कि हमें तो ऐसा जीवन चाहिए ही, जिसका कभी नाश नहीं होता, जिसमें नीर-सता की गंध भी नहीं है, जिसमें जड़ता की गंध भी नहीं है, जिसमे अभाव की गन्ध भी नहीं है। जो सदा-सदा के लिए, सभी के लिए सम्भव है। ऐसा जीवन हमको चाहिए।

तो ऐसे जीवन की माँग भी परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार कराती है। और वेदवाणी, गुरुवाणी भी परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार कराती है। जिसके अस्तित्व को हम स्वीकार कर लेते हैं, यानी ऐसा मान लेते हैं कि 'है' उसके महत्व को भी स्वीकार करना चाहिए। परमात्मा का महत्व क्या है? अगर एक शब्द में कहा जाय तो, परमात्मा 'समर्थ' है। सभी का है और सदैव है। समर्थ है, सभी का है और सदैव है। यह बात अगर आप मान लेते हैं, तो समर्थ को अपना मान लेने में कोई कठिनाई होती है क्या? जो सदैव है उसको मान ने में कठिनाई होती है क्या? जो सभी का है उससे अपना नाम कट सकता है क्या? तो इसी आधार पर हम परमात्मा को अपना मान सकते हैं। और यह जो परमात्मा को अपना मानना है, यही सच्चा भजन है। क्यों? अपना मानने से वह प्यारा लगता है। कोई भाई, कोई बहिन यह नहीं कह सकते कि जिसको हमने अपना माना है वह हमको प्यारा न लगा हो। है किसी का अनुभव? बोलो भाई! तो परमात्मा को अपना मानने से भजन कैसे होता है कि वह प्यारा लगता है अपना

मानने से। और जिसका कोई प्रिय है वही ईश्वरवादी है। प्रिय यानी प्यारा लगे। आप जानते हैं, इसमें क्या विलक्षणता होती है ? जिसका कोई प्रिय होता है, उसके मन में कभी नीरसता नहीं आती। नीरसता नहीं आती तो काम की उत्पत्ति नहीं होती। काम की उत्पत्ति नहीं होती तो विकारों का जन्म ही नहीं होता। इसलिए हमारा कोई प्रिय है तो हम ईश्वरवादी हैं।

श्रोता–कोई प्रिय से क्या तात्पर्य !

श्री महाराज जी–आपका कोई प्रिय होना चाहिए और संसार में आपका प्रिय कोई हो नहीं सकता, क्योंकि संसार केवल कामना-पूर्ति में सहायक होता है, आपके साथ सदैव रह ही नहीं सकता और आप भी इसके साथ सदैव नहीं रह सकते। प्रिय वही हो सकता है जो सदैव हमारे साथ रह सके अथवा हम उसके साथ रह सकें। तो कोई प्रिय हो सकता है तो वह परमात्मा ही हो सकता है। इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिसको प्रिय की भूख है उसको परमात्मा की भूख है। अब आया समझ में ? यदि किसी को अपने प्रिय की भूख है कि हमारा कोई प्रिय हो तो इसका अर्थ है कि उसको सिवाय परमात्मा के और कोई नहीं मिलेगा। जो सभी का प्रिय हो-ऐसा परमात्मा ही हो सकता है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि असली भजन जिसको कहते हैं, वह शारीरिक जिमनास्टिक नहीं है। बौद्धिक व्यायाम भजन नहीं है। भजन शरीर धर्म है ही नहीं। पर इतनी बड़ी बात आज न कोई सुनने को राजी है, न मानने को। कहेंगे–

"वाह, भगवान का नाम लेंगे, भगवान का ध्यान करेंगे, भगवान के गुण गायेंगे। यह क्या नास्तिक की तरह कहता है कि भजन शरीर-धर्म है ही नहीं।" लेकिन वास्तव में मैं सत्य कहता हूँ कि भजन शरीर धर्म नहीं है। क्योंकि भजन का अर्थ होता है- प्रियता। अब आप एक बात कह सकते हैं यहाँ कि भाई, फिर शरीर का क्या उपयोग करेंगे। हमने भगवान को अपना मान लिया तो भजन तो हमारा आरम्भ हो जायगा, भगवान हमको प्यारा लगेगा ही और प्यार का नाम ही भजन है तो फिर शरीर का क्या करेंगे? तब यह बात सामने आती है कि उसी प्रभु के नाते सबके प्रति सद्भाव रखेंगे और यथाशक्ति सहयोग देंगे। आपके पास स्थूल शरीर है, आपके पास सूक्ष्म शरीर है, आपके पास कारण शरीर है। तीन शरीर हैं-आपके पास। अथवा एक ही शरीर के तीन पहलू हैं। जैसा भी आप समझें। स्थूल शरीर से तो दूसरों को क्रियात्मक सहयोग दो और सूक्ष्म शरीर से सभी के प्रति सद्भाव रखो। अब भाई, कारण शरीर से क्या करोगे?-सभी को प्रभु के नाते अपना मानो। केवल (मोह के नाते) अपना नहीं, प्रभु के नाते। प्रभु के नाते-सभी अपने हो सकते हैं-यह स्वीकृति कारण शरीर के आश्रित है। सभी के प्रति सद्भाव अनिवार्य है-यह स्वीकृति सूक्ष्म शरीर की बात है। और यथाशक्ति सहयोग देना है-यह स्थूल शरीर की बात है।

तो शरीर के द्वारा प्रभु के नाते सबको अपना मान सकते हो, सबके लिए उपयोगी हो सकते हो। इसी को कहते हैं सेवा। भजन में जहाँ प्रेम एक अंग है, वहां एक अंग सेवा भी है। एक अंग और भी है भजन का। वह अंग है त्याग। यानी प्यार के

बदले में कुछ मत चाहो और सहयोग और सद्भाव के बदले में भी कुछ मत चाहो। जब ये तीनों चीजें इकट्ठी हो जायेंगी तब वास्तविक भजन की पूर्णता होगी। भगवान् हमें प्यारे लगें किन्तु उनसे हमें कुछ चाहिए नहीं। संसार के प्रति सद्भाव हो सहयोग हो, हम सभी को अपना मानें, पर बदले में कुछ नहीं चाहें। दूसरे शब्दों में हम पर सभी का अधिकार है, परन्तु हमारा किसी पर अधिकार नहीं है-यह असल में सेवा का मूल मन्त्र है। तो सेवा, त्याग और प्रेम ये तीनों चीजें जब एकरूप हो जाती हैं, एक जीवन में आ जाती हैं तो उसको कहते हैं-भजन। भजन तो जीवन है। सेवा और त्याग उसका सहयोगी साधन है। सेवा और त्याग-ये शरीर से सम्बन्ध रखते हैं और भजन "स्व" से सम्बन्ध रखता है। क्योंकि जब अपना मानोगे तभी तो भगवान प्यारा लगेगा।

हमारे विचार से भजन की प्राप्ति तीन प्रकार से होती है-स्तुति, उपासना, और प्रार्थना से। स्तुति से तात्पर्य है-परमात्मा के अस्तित्व और महत्व को स्वीकार करना। उपासना का अर्थ है-परमात्मा से सम्बन्ध स्वीकार करना। और प्रार्थना का बोधार्थ है-परमात्मा के प्रेम की आवश्यकता अनुभव करना। आपने बड़े-बड़े पंडितों से, विद्वानों से सुना होगा कि जब मानव जीवन का सबसे पहिले निर्माण हुआ, तब केवल प्रणव ही वेद था। यह 'ओम्' शब्द (ओंकार) जो है, यही वेद के अर्थ में आता था। यही वेद था। इसमें वेद का सारा अर्थ मौजूद है। फिर बुद्धि कुछ स्थूल हुई तो वेदमाता गायत्री हो गयी। गायत्री ही वेद है। और फिर तो आपने देखे ही हैं कि कितने वेद हैं, उप-वेद हैं, पुराण हैं, ग्रन्थों की कोई सीमा ही

नहीं है । एक आदमी अपने जीवन भर में पढ़ ही नहीं सकता सब; इतने ग्रन्थ हैं । लेकिन वास्तव में वेदमाता गायत्री है अथवा प्रणव वेद है। और उस वेद में तीन ही बातें बतायी गयी हैं । परमात्मा है यानी उसका अस्तित्व है और अस्तित्व से निकलती है स्तुति; अर्थात् उसकी महिमा का वारापार नहीं है। और वह अपना है । तथा उसका प्रेम ही हमारी माँग है । यह स्तुति, उपासना और प्रार्थना हो गयी । तो मैं यह निवेदन कर रहा था आपसे कि स्तुति, उपासना, प्रार्थना के द्वारा परमात्मा को माना जाता है, इन्द्रिय-गोचर परमात्मा को नहीं किया जाता । हाँ, जब स्तुति, उपासना, प्रार्थना के द्वारा परमात्मा के साथ आत्मीयता हो जाती है तब तुम हो जाते हो प्रेम और फिर प्रेम होकर परमात्मा से अभिन्न हो जाते हो । फिर परमात्मा की ओर से आने वाला प्रेम भी तुम्हें मिलता रहता है, तुम्हारी ओर से परमात्मा के पास प्रेम जाता रहता है । प्रेम और प्रेमास्पद का जो नित्य विहार है यही परमात्मा की प्राप्ति मानी जाती है । और कोई प्राप्ति होती होगी तो हमको मालूम नहीं है । यह आपसे मेरा निवेदन था ।

इसलिए भाई, परमात्मा के आस्तित्व को स्वीकार करो । "परमात्मा है"—यह बात स्वीकार करो । क्यों ? गुरुवाणी और वेदवाणी सिद्ध है इसलिए । अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं है। या तो गुरुवाणी से है या वेदवाणी से अथवा अपनी मांग में "परमात्मा है" । यह हम जैसे बिना पढ़े-लिखे साधुओं की बात है कि भाई, हमें तो परमात्मा की माँग है, इसलिए हम परमात्मा को मानते हैं। क्यों ? हमको अविनाशी जीवन चाहिए! हमको स्वाधीन जीवन चाहिए!! हमको रसरूप और चिन्मय

जीवन चाहिए !!! और जैसा जीवन हमको चाहिए वह संसार में है ही नहीं। अतः संसार हमारे अपने लिए नहीं है। तो फिर? और हमको है माँग। तो परमात्मा अपने लिए है। इस तरह से तो हमने मान लिया। और हमारे जीवन में यही प्रश्न उठा था सबसे पहले। जब हमारे पास परिस्थिति जनित दुःख आया और दुःख के प्रभाव से मैं पीड़ित हुआ तो पीड़ित होने पर यही प्रश्न पैदा हुआ कि "क्या कोई ऐसा भी जीवन है जिसमें दुःख का प्रवेश नहीं होता ? कोई ऐसा रस रूप, सुखरूप जीवन है जिसमें दुःख का प्रवेश न हो ?" तो सुनने को मिला कि ऐसा जो जीवन है वह महात्माओं को मिला करता है, साधुओं को मिला करता है। तो साधुओं से मिलना जब शुरू किया तो साधुओं के पास सिवाय प्रभु विश्वास के और उससे बढ़िया चीज नहीं है। वैसे तो साधुओं के पास और भी चीजें हैं, जैसे सदाचार है, विवेक है, संयम है। श्रम, संयम, सदाचार, विवेक ये सब सामग्री, साधु कहो चाहे साधक कहो, इनके पास होती हैं। लेकिन सबसे बढ़िया चीज जो साधक के पास होती है, वह होती है प्रभु का विश्वास। प्रभु-विश्वास उनके पास सबसे बढ़िया, कीमती चीज है। तो जब साधुओं के पास गया तो उन्होंने मुझको प्रभु-विश्वास दे दिया। कहा कि "भैया ! प्रभु में विश्वास करो, सब प्रकार से उसी के होकर रहो, तुम्हारे सर्व दुःखों की निवृत्ति हो जायगी।"

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि यह प्रश्न कोई मेरे ही जीवन में ही आया हो, ऐसा नहीं है। यह आप सबके जीवन में है। कोई तो निराश होकर हार मान कर बैठ जाता है और हीन भाव से अपनी जिन्दगी बरबाद करता है।

और कोई निराश नहीं होता। वह सजग होकर इस बात को स्वीकार करता है कि जिस जीवन की माँग मुझको है, वह जरूर होना चाहिए, वह जरूर मिलना चाहिए। अगर मेरी माँग में सर्व दुःखों की निवृत्ति है तो सर्व दुःखों की निवृत्ति होनी ही चाहिए। अगर मेरी माँग में जीवन-मुक्ति है तो जीवन-मुक्ति होनी चाहिए। अगर मेरी माँग में भगवद्-भक्ति है तो भगवद्-भक्ति मुझको मिलनी ही चाहिए। माँग कहते ही उसको हैं जिसको पूरा होना ही चाहिए। इस दृष्टि से अगर आप महानुभाव विचार करेंगे तो आपको यह मानना पड़ेगा कि हर भाई को, हर बहन को परमात्मा को मानना अनिवार्य हो जाता है। परमात्मा को पाना अनिवार्य हो जाता है। विवेकी-जन पाकर के मानते है, विश्वासी-जन मान करके पाते हैं। इतना ही फर्क है। किसी ने पहले मान लिया फिर प्राप्त किया। किसी ने प्राप्त कर लिया तब मान लिया। मुझे ठीक मालूम है, आज के युग में बड़े विचारक, जो परमात्मा और आत्मा की चर्चा ही नहीं करते, बल्कि निषेधात्मक बात करते हैं वे हैं–जे० कृष्ण मूर्ति। उन्होंने जो आखिरी किताब लिखी है, उसमें लिखा है कि–"प्रेम की जागृति ही मानव के विकास की चरम सीमा है।" यानी प्रेम प्राप्ति मानव जीवन की चरम सीमा है। तो भैया! प्रेम प्राप्ति तो तभी न होगी, जब कोई प्रेमास्पद होगा? प्रेम-प्राप्ति बिना प्रेमास्पद के हो जायगी क्या?

श्रोता–नहीं।

तो इस तरह से उन्होंने भी अपनी थीसिस में, अपनी खोज में परमात्मा की ओर संकेत किया है।

तो मैं आपसे यह नम्र-निवेदन करना चाहता था कि

परमात्मा है इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिए। है जरूर; भले ही हम यह न जानते हों कि वह कैसा है। भले ही हम यह न जानते हों कि कहाँ हैं। ये बातें हम भले ही न जानते हों, पर 'है' इस बात को जरूर मानना चाहिए। जो परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है, महत्व को स्वीकार कर लेता है उसमें परमात्मा का अपनत्व आ जाता है। और जब परमात्मा का अपनत्व आ जाता है तो अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता उदित हो जाती है। इसी का नाम भजन है। अभ्यास का नाम भजन नहीं है। स्मृति और प्रियता का नाम भजन है। और वह प्रियता अपनत्व से उदित होती है, आवश्यकता से उदित होती है। आवश्यकता अस्तित्व स्वीकार करने से सजीव होती है। आप कहें आवश्यकता तो है, पर ऐसा है ही नहीं। थोड़ी देर के लिए मान लो ऐसा। तो क्या कहोगे? तो अधीर होकर कहोगे– "अरे भैया, चैन तो है ही नहीं। न कभी मिला है न मिल सकता है। हंसते रहो, रोते रहो। बस यही जीवन है।" ऐसा कहने लग जाओगे। पर ऐसा कहना किसी सजग मानव की बात नहीं है। यह तो हारे हुए मानव की बात है। यह जड़ता में आबद्ध हुए मानव की दशा है। यह दशा है, जीवन का सत्य नहीं है। जीवन का सत्य यही है कि जो चीजें आज हमारी माँग के रूप में हैं, कल वे प्राप्ति रूप में अवश्य होनी चाहिएँ। जो चीज माँग के रूप में है, प्राप्ति के रूप में होनी ही चाहिए। यह जीवन का ध्रुव सत्य है।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि क्या आज हम और आप प्रभु का आश्रय ले सकते हैं, प्रभु आश्रित हो सकते हैं? क्या हम और आप आज अकिंचन और अचाह हो सकते हैं। तो

भाई उत्तर में कहना पड़ेगा कि अगर होना चाहते हैं तो अवश्य हो सकते हैं। हर भाई अकिंचन हो सकता है, हर बहिन अकिंचन हो सकती है। हर भाई अचाह हो सकता है, हर बहिन अचाह हो सकती है। हर भाई, हर बहिन हरिआश्रय ले सकती है। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है। क्योंकि "स्व" के द्वारा ही आश्रय लिया जाता है। आश्रय में हेतु विश्वास है और अकिंचन और अचाह होने में हेतु ज्ञान है। ज्ञान का तत्व और विश्वास का तत्व प्रभु ने मानव-मात्र को प्रदान किया है। हम जानते भी हैं, हम कुछ-न-कुछ मानते भी हैं। यानी मानना भी आता है। मानना आता न हो ऐसी बात नहीं है। क्या राय है ? मानना और जानना आता है या नहीं ?

श्रोता–आता है।

तो इसका मतलब यह हुआ कि हम, आप सभी बड़ी ईमानदारी से अकिंचन भी हो सकते हैं, अचाह भी हो सकते हैं और प्रभु का आश्रय भी ले सकते हैं, हरिआश्रित भी हो सकते हैं। हरि आश्रय का इतना भारी महत्व मालूम होता है मुझे। अगर प्रभुआश्रय हमें प्राप्त हो गया तो भय के लिए कहाँ स्थान है। चिन्ता के लिए कहाँ स्थान है। प्रभु-आश्रय में तो भय प्रवेश कर ही नहीं सकता, चिन्ता प्रवेश कर ही नहीं सकती, निराशा कभी जीवन में आ ही नहीं सकती। अब आप सोचिये कि निराशा निकल जाय, भय निकल जाय, चिन्ता निकल जाय तो कैसा लगेगा आपको ? भय, चिन्ता, निराशा से रहित जीवन ?

श्रोता–बहुत बढ़िया लगता है।

तो जो सर्वोत्कृष्ट जीवन है, जो सबसे ऊँचा जीवन है, वह

हर भाई को, हर बहिन को स्वधर्म और शरीर धर्म का पालन करने से मिल सकता है। यह आज की चर्चा का सार-सर्बस्व निकला।

शरीर धर्म क्या है–सद्भाव, सहयोग और सभी को अपना मानना। सभी को अपना मानना––यह शरीर धर्म है, क्योंकि सांसर शरीर के संयोग से भासित होता है। तो संसार को अपना मानना, उसके प्रति सहयोग रखना, उसके साथ सद्भाव रखना और इसकी उत्पत्ति का आधार और प्रतीति का प्रकाशक जो परमात्मा है–– उसे अपना मानना, अपने लिए मानना। संसार को अपना मानना सेवा करने के लिए, परमात्मा को अपना मानना प्रेमी होने के लिए। न प्रेमी को कुछ चाहिए और न सेवक को कुछ चाहिए। इसलिए सेवक हो तब भी अचाह हो सकते हो, प्रेमी हो तब भी अचाह हो सकते हो। अचाह बिना हुए शान्ति मिलेगी नहीं, संसार के काम आये बिना करने का राग निवृत्त होगा नहीं, भगवान को अपना माने बिना स्मृति और प्रियता जगेगी नहीं। यह जीवन का सत्य है। इसको स्वीकार करना कहलाता है सत्संग और वह सत्संग मानव का स्वधर्म है।

१२
(अ)

मनुष्य को जरूरत है कि उसे ऐसा जीवन मिले जिसमें दुःख न हो। इसकी पूर्ति संसार की सहायता से नहीं हो सकती क्योंकि संसार जनित सुख अवश्य ही दुःख में बदल जाता है।

प्रस्तुत संतवाणी में यह परामर्श दिया गया है कि संसार की कामना छोड़ दो। संसार शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होता है, माँग की पूर्ति में नहीं, अतः अचाह हो जाओ और मरने से डरो मत तो मरने से पहले अमर हो जाओगे।

अगर हम तीन बातों को मान लेते हैं कि :–

(१) किसी को क्षति नहीं पहुँचायेंगे,
(२) यथा शक्ति सहयोग देंगे,
(३) और बदले में कुछ नहीं चाहेंगे,

तो हमें योग और स्मृति प्राप्त हो जायेगी।

मानव जीवन का यह सिद्धान्त है कि दायित्व पूरा करने से माँग पूरी होती है। सत्य को स्वीकार करने का नाम सत्संग है। सत्य की चर्चा करें और सर्वांश में सत्य को स्वीकार न करें तो हमारी माँग पूरी नहीं होगी।

–: ० :–

प्रवचन :

"मेरी कोई माँग है या नहीं, मुझ पर कोई दायित्व है या नहीं।" इस सम्बन्ध में यदि विचार किया जाय तो प्रत्येक मानव को यह मानना पड़ता है कि मेरी कोई माँग तो है और मुझ पर कोई दायित्व भी है। अब आप विचार कीजिये कि जिसको कोई माँग होती है और जिस पर कोई दायित्व होता है, उसका नामकरण क्या किया जाय ? यानी कोई व्यक्ति किसी तरह की कोई जरूरत महसूस करे और अपने पर कोई जिम्मेदारी महसूस करे जो उसे क्या कहेंगे आप ? क्या नाम रखेंगे उसका ?

श्रोता–साधक ।

श्री महाराज जी–हाँ, साधक तो अपने यहाँ कहते ही हैं। साधक कहेंगे या कहेंगे यह कोई बड़ा जरूरतमंद आदमी है। पूर्ण तो नहीं है न, और जड़ भी नहीं है; क्योंकि वह जिम्मेदारी महसूस करता है। जड़ जो होता है उसको जरूरत भी अनुभव नहीं होती और जिम्मेदारी भी महसूस नहीं होती। लेकिन हमको जरूरत अनुभव होती है और जिम्मेदारी महसूस होती है। क्या जरूरत अनुभव होती है ? कि कोई ऐसा सुख मिलता, जिसमें दुःख न होता अथवा कोई ऐसा जीवन मिलता, जिसमें मृत्यु न होती अथवा कोई ऐसा संयोग मिलता, जिसमें वियोग न होता। क्या ऐसे सुख की माँग आप कभी अपने मन में अनुभव करते हैं कि ऐसा सुख हो जिसमें दुःख शामिल न हो। ऐसा सुख किसी वस्तु के द्वारा मिल सकता है ? किसी व्यक्ति के द्वारा मिल सकता है ? किसी परिस्थिति के द्वारा ?

श्रोता–नहीं मिल सकता ।

अब देखिये यह सब आपका अपना ज्ञान है, किसी की सिखाई हुई बात नहीं है । वस्तु के द्वारा ऐसा सुख नहीं मिलता जिसमें दुःख न हो । किसी परिस्थिति विशेष के द्वारा ऐसा सुख नहीं मिलता, जिसमें दुःख न हो । व्यक्ति के द्वारा ऐसा सुख नहीं मिलता जिसमें दुःख न हो । इससे यह सिद्ध हुआ कि हमें जो सुख चाहिए वह शरीर और संसार की सहायता से नहीं मिल सकता ।

तो हमें जो सुख चाहिए वह शरीर और संसार की सहायता से नहीं मिल सकता । अगर यह बात आप ईमानदारी से स्वीकार करते हैं, तो फिर क्या हमारे आपके सामने यह प्रश्न नहीं आ जाता कि जो कुछ वस्तु मुझे मिली है वह मेरे लिए नहीं है । क्या राय है ? जी ! यह प्रश्न आ जाता है कि जो कुछ मुझे मिला है वह मेरे लिए नहीं है । फिर किसके लिए है ? उसका क्या उपयोग है ? उसका उपयोग तो है, पर वह अपने लिए नहीं है । इसका अर्थ यह हो जाता है कि वस्तु, जो अपने से अधिक अभाव से पीड़ित हैं उनके काम आ सकती है । लेकिन उस मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य द्वारा किसी के सर्व दुःखों की निवृत्ति होती है क्या ?

श्रोता–नहीं होती ।

तो सर्व दुःखों की निवृत्ति के लिए हमें कोई वस्तु नहीं चाहिए, कोई योग्यता नहीं चाहिए, कोई सामर्थ्य नहीं चाहिए । इसका मतलब यह हुआ कि संसार से मुझे कुछ नहीं चाहिए । अर्थात् संसार में मेरा कुछ नहीं है । ऐसी चीज संसार में नहीं है जो मेरे लिए हो । जी ! है क्या ? अब देखिये, यह कोई ऐसी

बात नहीं है जो आप मेरे कहने से मान लें। क्या आपको स्वयं ज्ञान के प्रकाश में ऐसा मालूम नहीं होता कि संसार में मेरे लिए कुछ नहीं है। अगर यह बात आपको मालूम होती है तो फिर अचाह होने में क्या तकलीफ है ?

अब जरा अचाह होकर देखिये, तो आपको साफ अनुभव हो जायगा कि अचाह होते ही न तो पराधीनता रहती है और न अशान्ति रहती है। अनुभव तो करो जरा! अब देखिये,अचाह होने से ही पराधीनता और अशान्ति मिटी। पराधीनता,अशान्ति मिटने से क्या प्राप्त होगा–इसे आप स्वयं अनुभव करेंगे या कोई सिखायेगा ?

श्रोता- स्वयं अनुभव करेंगे।

तो पहले इस बात का अनुभव करो कि पराधीनता और अशान्ति जीवन में न रहने पर कैसा लगता है। उसको आप वाणी से कह सकते हैं ? नहीं कह सकते। उसे समझा सकते हैं? नहीं समझा सकते। लेकिन स्वयं प्राप्त कर सकते हैं कि नहीं ?

श्रोता–कर सकते हैं।

कर सकते हैं तो क्यों नहीं करते ? अचाह होकर शान्ति और स्वाधीनता क्यों नहीं प्राप्त कर लेते या क्यों नहीं करते? तब आप कहेंगे कि हम क्या बतायें, कभी-कभी हमको शरीर-धर्म सताने लगता है। जैसे प्यास लगी, भूख लगी, नींद लगी इत्यादि-इत्यादि। अच्छा,यह जो शरीर-धर्म हमको सताने लगता है तो "शरीर" और "मैं" एक हैं या शरीर आपको मिला हुआ है।

श्रोता–मिला हुआ है।

तो मिले हुए के लिए आपको संसार की जरूरत होती है कि अपने लिए ? क्या राय है आपकी ? मिले हुए के लिए संसार की जरूरत होती है।

अच्छा, एक बात तो बताओ ! मिले हुए के लिए हमें संसार की जरूरत तो होती है, लेकिन क्या हमारी संसार को बिल्कुल जरूरत नहीं होती ?

श्रोता–होती है।

अच्छा संसार को हमारी क्या जरूरत होती है और हमें संसार की क्या जरूरत होती है, इस पर सोचो। तो साफ मालूम होता है कि हमें तो शरीर के निर्वाह के लिए कुछ चाहिए और संसार हमको ईमानदार, उदार, बुराई रहित, स्वाधीन, अचाह और प्रेमी देखना चाहता है। तो संसार हमसे जो आशा करता है वह हमारे लिए सम्भव है या असम्भव ?

श्रोता–सम्भव है।

अगर हम अचाह होकर, स्वाधीन होकर, उदार होकर, सभी के प्रति सद्‌भाव रख कर रहें, तो संसार हमको नापसन्द नहीं करेगा। और जब संसार नापसन्द नहीं करेगा तो वह शरीर हमारा रहा कि संसार का रहा ?

श्रोता–संसार का।

लेकिन हम इस बात को भूल जाते हैं। हम मान लेते हैं कि शरीर हमारा है।

शरीर हमारा नहीं है, संसार का है। अतः हम शरीर की सारी जरूरतों को संसार की मर्जी पर छोड़ देंगे और शरीर के द्वारा किसी को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचायेंगे, अपितु

यथाशक्ति सहयोग देंगे। इन तीन बातों के मानने में या पूरा करने में हमको क्या कठिनाई है? बोलो भाई! कौन-कौन सी तीन बातें बताई, बताना जरा?

श्रोता-शरीर के निर्वाह के लिए………। (श्रोताओं में से कोई भी पूरी बात न बता सका। इस पर स्वामीजी ने कहा) क्या? नहीं,नहीं भाई तुम सुनते नहीं हो गौर से! हम शरीर के द्वारा किसी को क्षति नहीं पहुँचायेंगे। शरीर की सारी आवश्यकतायें संसार की मर्जी पर छोड़ देंगे। हम किसी से कुछ नहीं चाहेंगे। ये तीन बातें क्या हम नहीं पूरी कर सकते? हम शरीर के द्वारा किसी को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचायेंगे। हम शरीर की आवश्यकता को संसार की मर्जी पर छोड़ देंगे और यथा-शक्ति सहयोग देंगे। इतना ही तो काम है न! जिसने शरीर की आवश्यकता को संसार की मर्जी पर छोड़ दिया, वह अचाह हो जायगा कि नहीं। वह निश्चिन्त हो जायगा कि नहीं। वह निर्भय हो जायगा कि नहीं। यही बात हमारे गुरु महाराज ने कही कि, "बेटा! जब तुम आजाद हो जाओगे, स्वाधीन हो जाओगे, अचाह हो जाओगे तो सृष्टि इतनी उदार है कि तुम्हारे शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए लालायित रहा करेगी।" सृष्टि, व्यक्ति नहीं! आज क्या कारण है, हमारी क्यों ऐसी दशा हो गयी; क्योंकि हमने पराधीनता को पसन्द कर लिया। इसी का परिणाम यह हुआ कि आज हम सृष्टि से अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए लालायित रहते हैं। अगर हम स्वाधीनता पसन्द करलें, अगर हम मन वाणी-कर्म से बुराई-रहित हो जायं, अगर हम स्वयं को अकिंचन-अचाह अनुभव करें तो शरीर संसार का हो जायगा। और जो जिसकी चीज होती है वह उसका ध्यान नहीं रखता है क्या?

श्रोता–रखता है ।

वह उसका ध्यान रखेगा । तो संसार शरीर का ध्यान रखे, संसार शरीर की जरूरत को पूरा करने के लिए लालायित रहे, यह कब होगा ? जब हम शरीर के द्वारा किसी को हानि नहीं पहुँचायेंगे और शरीर की जरूरत को संसार की मर्जी पर छोड़ देंगे और उससे कुछ न चाहेंगे, अपितु यथाशक्ति सहयोग देंगे ।

भाई ! अगर आपमें कुछ करने की शक्ति है तो या तो आप हानि पहुँचा सकते हैं या किसी को आप सहयोग दे सकते हैं । हानि पहुँचायेंगे ही नहीं, यथा सम्भव सहयोग देंगे, शरीर के द्वारा । किसको ?–संसार को । और इतनी उदारता पूर्वक देंगे कि शरीर की आवश्यकता को संसार की मर्जी पर छोड़ देंगे । सेवक में और नौकर में फर्क क्या होता है ? सेवक सेवा करता है, बदले में कुछ चाहता नहीं और नौकर कुछ चाहता, तब कुछ करता है । नौकर जब कुछ चाहता है और कुछ करता है तो उसमें और सेवक के जीवन में फर्क होगा कि नहीं होगा ?

श्रोता–जी, होगा ।

सेवक सहयोग देगा औ अपना अधिकार नहीं मानेगा । अगर यह नीति हम मान लें कि भाई, संसार के साथ हम जो भी सहयोग कर सकते हैं, करते रहें और अपना अधिकार न मानें, तो हमको कभी क्रोध आयेगा, हममें कोई राग रह जायेगा? और जब हम राग और क्रोध से रहित हो जायेंगे तो योग और स्मृति प्राप्त नहीं होगी–क्या ? क्या राय है ? तो पहला कदम क्या हुआ ? हम शरीर के द्वारा किसी को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचायें, अपितु यथा-शक्ति सहयोग दें । यही तो हुआ

न ! और इस सहयोग के बदले में अपना कोई अधिकार न मानें। अगर इन तीन बातों को हम मान लेते हैं–किसी को क्षति नहीं पहुँचाते हैं, यथा शक्ति सहयोग देते हैं और बदले में कुछ नहीं चाहते हैं–तो हमें योग और स्मृति प्राप्त हो जायगी। योग अर्थात् जिस जीवन की माँग है, जो हमारी जरूरत है, उसकी पूर्ति हो जायगी, उसका बोध हो जायगा, उससे हमारी एकता हो जायगी, उसमें हमारा प्रेम हो जायगा। यानी हम योग-पूर्वक, बोध-पूर्वक, प्रेम-पूर्वक उस जीवन से अभिन्न हो जायेंगे, जिस जीवन की मांग है। योग-पूर्वक, बोध-पूर्वक और प्रेम-पूर्वक यह भाषा समझ में आती है ?

तो अचाह होने से, बुराई-रहित होने से, यथा-शक्ति सह-योग देने से हमें योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है। अब यह प्रोग्राम कब पूरा करोगे भाई ? सबसे पहली चीज क्या होगी ? बोलो ?

श्रोता–सबसे पहली चीज होगी इसी को पूरा करना।

श्री महाराज जी–इसमें तीन बातें हैं, पहले कौन सी पूरी करोगे ?

श्रोता–संसार को क्षति न पहुँचायें।

हाँ ! कभी किसी का बुरा न चाहें, कभी किसी के साथ बुराई न करें, कभी किसी को बुरा न समझें यह पहली बात होगी। जो किसी का बुरा नहीं चाहता है, जो बुराई नहीं करता है, जो किसी को बुरा नहीं समझता है वह भला हो जाता है। कर्तव्यनिष्ठ हो जाता है। यानी हमको हक नहीं है किसी को बुरा समझने का यह एक साधक की भाषा बोल रहा हूँ। यहाँ राजनीति मत ले जाना कि बुरे को बुरा क्यों न समझें ? हमें

हक नहीं है किसी को बुरा समझने का। क्यों ? अगर हम किसी को बुरा समझेंगे तो हमारे मन में द्वेष पैदा होगा कि नहीं ? जब द्वेष की अग्नि जलेगी तो प्रेम उदय होगा क्या ? जी! तो हमारे हृदय में द्वेष की उत्पत्ति न हो, इसके लिए हमें यह व्रत लेना पड़ेगा कि हम किसी को बुरा नहीं समझेंगे, हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे, हम किसी के साथ बुराई नहीं करेंगे। बुराई न करना पहली बात,बुरा न चाहना दूसरी बात, बुरा न समझना आखिरी बात। अगर ये तीन बुराइयाँ हमारे जीवन में से निकल जायं;हम निकाल दें, छोड़ दें, तो जीवन कितना सुन्दर हो जाय।

अच्छा बुराई न करने की हमें स्वाधीनता है कि नहीं ? भाई, हम यह नहीं कहते कि कोई बुरा है या नहीं है। परन्तु हमें हक नहीं है किसी को बुरा समझने का। हक है क्या ?

श्रोता–नहीं है।

बुरा समझने का हमको हक नहीं है। अगर इस सत्य को हम मान लेते हैं कि किसी का बुरा चाहने का हमें हक नहीं है, जबकि हम जानते हैं कि हमारा कोई बुरा न चाहे। किसी के साथ बुराई करने का हमें हक नहीं है, जबकि हम जानते हैं कि हमारे साथ कोई बुराई न करे। ये तीनों बातें हमें ज्ञान के द्वारा स्वत: प्राप्त हैं या नहीं हैं ?अब प्राप्त को अपना लेना, प्राप्त का उपयोग कर लेना, प्राप्त को स्वीकार कर लेना, यही हमारा सत्संग है। तो यह पहली बात हुई। उसका फल क्या होगा कि जब हम मन–वाणी–कर्म से बुराई रहित हो जायेंगे तो अपने आप शरीर के द्वारा किसी-न-किसी अंश में भलाई होती रहेगी, सद्भाव और सहयोग होता रहेगा। सद्भाव और सहयोग से

चित्त शुद्ध होगा । पहले शुद्ध होगा और फिर जब उसके बदले में कुछ नहीं चाहेंगे तो शान्त होगा । अचाह होने से चित्त शान्त होता है और सद्भाव तथा सहयोग से चित्त शुद्ध होता है । सहयोग और सद्भाव तथा अचाह होना—क्या यह जीवन का सत्य नहीं है ? बोलो भाई ?

श्रोता—है ।

इस सत्य को स्वीकार करने से चित्त शुद्ध और शान्त होता है । जब चित्त सर्वांश में शुद्ध हो जाय और सम्पूर्ण रूप से शान्त हो जाय, उसी को योग कहते हैं । अगर यह बात आपको जँच जाय, रुच जाय, पसन्द आ जाय, तो योग की प्राप्ति में कोई भी भाई, कोई भी बहन कभी भी पराधीन नहीं है । अच्छा योग की प्राप्ति में जब आप स्वाधीन हैं तो जिसके साथ हमारा योग होगा, क्या उसका हमें बोध नहीं होगा ? क्या उसमें हमारा प्रेम नहीं होगा ? तो योग ही बोध और प्रेम के रूप में परिणत हो जायगा । बोध—अध्यात्म जीवन; योग—भौतिक जीवन के विकास की चरम सीमा और प्रेम आस्तिक जीवन ।

देखो, यह जो योग-विज्ञान है यह असल में भौतिक-विज्ञान है । क्योंकि चित्त के शुद्ध और शान्त होने का नाम योग है । क्यों भाई ? अब यह चित्त प्राकृतिक है या दैवी है ? अरे भाई ! यह सृष्टि जिससे बनी है उसी से चित्त बना है कि चित्त किसी और चीज से बना है ? जी ! तो भौतिक विकास की चरम सीमा योग है और अध्यात्म विकास की चरम सीमा बोध है, और आस्तिक विकास की चरम सीमा प्रेम है । हमें योग भी चाहिए, हमें बोध भी चाहिए, हमें प्रेम भी चाहिए । इस दृष्टि से यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि हमारी यह जो माँग

है, जब हम अपने दायित्व को पूरा करेंगे तो माँग पूरी हो जायगी। इसीलिए मानव का एक नाम साधक भी है। दायित्व पूरा करेंगे तो माँग भी पूरी हो जायगी। और दायित्व जो हमें पूरा करना है वह ज्ञान-बिरोधी है क्या? सामर्थ्य बिरोधी है क्या?

श्रोता–नहीं।

तो जो दायित्व ज्ञान-विरोधी नहीं है, सामर्थ्य बिरोधी नहीं है, उसे हम बर्तमान में पूरा कर सकते या नहीं?

श्रोता-कर सकते हैं।

तो दायित्व पूरा करने से माँग पूरी होती है, यह सिद्धान्त आपको कैसा मालूम देता है? दायित्व पूरा कर सकते हैं, माँग पूरी हो सकती है। अगर यह बात हम अच्छी तरह से स्वीकार करलें और अपने अनुभव के आधार पर स्वीकार कर लें, तो हम सभी अर्थात् मानव मात्र, बड़ी सुगमता पूर्वक उस जीवन को प्राप्त कर सकते हैं जो जीवन कभी भी, किसी भी ऋषि-मुनि, पीर-पैगम्बर को मिला है। वह जीवन आपको भी मिल सकता है। केवल इन दो बातों से कि दायित्व पूरा कर दें, माँग पूरी हो जायगी। अब दायित्व पूरा करने का प्रश्न हमारे सामने मौलिक प्रश्न है। और दायित्व हम पर वही है जिसे हम पूरा कर सकते हैं। अब बताओ, उस जीवन से, जिस जीवन को पाकर फिर कुछ और पाना शेष नहीं रहता, क्या हमें–आपको निराश होना चाहिए?

श्रोता–नहीं होना चाहिए।

इसलिए मानव सेवा संघ की प्रणाली में बताया गया कि मानव को नित्य जीवन से, रस-रूप जीवन से, स्वाधीन

जीवन से, अमर जीवन से कभी निराश नहीं होना चाहिए। अच्छा, इसके अतिरिक्त और कोई चीज है ऐसी, जिसकी आशा करनी चाहिए ?

श्रोता–नहीं है।

कोई चीज आशा के योग्य नहीं है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि सत्य को स्वीकार करने-मात्र से हमारी-आपकी माँग पूरी हो सकती है और सत्य उसे नहीं कहते, जिसे आप स्वयं अनुभव नहीं कर सकते। देखो, सत्य के लिए प्रमाण अपेक्षित नहीं है। आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं कि मिली हुई वस्तु-योग्यता-सामर्थ्य के द्वारा मुझे अविनाशी जीवन नहीं मिल सका, न मिल सकता है,न मिलेगा। मुझे जो जीवन चाहिए वह मिली हुए वस्तु के द्वारा नहीं मिलेगा, मिली हुई योग्यता के द्वारा नहीं मिलेगा, मिली हुई सामर्थ्य के द्वारा नहीं मिलेगा। अतः मेरे पास जो भी योग्यता, वस्तु, सामर्थ्य है वह समाज-सेवा के लिए है, अपने लिए नहीं है। हमसे भूल क्या होती है कि उस सेवा-सामग्री के द्वारा हम स्वयं सुख भोगने लगते हैं। यह हमसे भूल होती है। जब सेवा-सामग्री के द्वारा हम स्वयं सुख भोगने लगते हैं, तो हमको विवश होकर भयंकर दुःख भोगना पड़ता है। क्या राय है ? अगर इस भूल को हम अपने जीवन में से निकाल दें कि वस्तु, योग्यता,सामर्थ्य द्वारा हम सुख नहीं भोगेंगे, अपितु दूसरों की सेवा करेंगे,तो हम सबको बड़ी सुगमता-पूर्वक वह जीवन मिल जायगा, जिस जीवन में अभाव की,पराधीनता की,नीरसता की,अशान्ति की गन्ध भी नहीं है। वह जीवन हमको अवश्य मिल जायगा।

–: ० :–

१२

(ब)

प्रभु के प्रेमी होने के लिए मनुष्य पर यह दायित्व है कि वह परमात्मा को पसन्द करे और जिस संसार के बन्धन से छूटना चाहता है उसकी सेवा करे। सेवा करने से सुख की दासता मिट जाती है और दुःख के भय का भी नाश हो जाता है। शान्ति भी मिल जाती है।

यह जीवन का सत्य है।

— :—: —

प्रवचन : १

अब इस सम्बन्ध में अगर किसी भाई-बहिन के मन में कोई प्रश्न उठता हो तो और बात की जाय। बात ही तो करना है और करना क्या है। अब इसमें क्या कठिनाई है भैया! हम पर जो जिम्मेदारी है उसे पूरा करने में कोई कठिनाई नहीं है। अगर हमें कठिनाई मालूम होती है जिम्मेदारी पूरा करने में, तो यह हमारा कोई भ्रम है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा हमें वह जीवन नहीं मिल सकता, जिसकी हमें माँग है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा किसी को क्षति नहीं पहुँचाना; अपितु दूसरों के लिए उपयोगी होना है। इतनी सी तो बात है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य, अपने लिए नहीं है, उसके द्वारा किसी को क्षति नहीं पहुँचाना है, अपितु उपयोगी होना है। इसीको कहते हैं–कर्तव्य-विज्ञान। इसीको कहते हैं धर्म-विज्ञान। उसके बदले में कुछ नहीं चाहिए, इसको कहते है–– अध्यात्म विज्ञान। धर्म-विज्ञान की पूर्णता से अध्यात्म-विज्ञान की प्राप्ति होती है। और जिसने हमें यह स्वाधीनता दी है, वही हमारा अपना है, उसकी प्रियता ही हमारा जीवन है। यह आस्तिक–विज्ञान है। इसे हक-परस्ती कहो, ईश्वर-भक्ति कहो कि जिसने हमें यह स्वाधीनता दी है कि हम धर्म-विज्ञान के द्वारा जगत के लिए और अध्यात्म-विज्ञान के द्वारा अपने लिए उपयोगी हो सकते हैं, उस दाता में आत्मीयता स्वीकार करना, उसकी प्रियता, स्मृति जगाना यह आस्तिक-विज्ञान है।

आप संसार को मान कर चलो तो भी साधक, और

आत्मा को मान कर चलो तो भी साधक, और परमात्मा को मान कर चलो तो भी साधक। तीनों दृष्टियों से तुम साधक हो। अगर यह बात आपको जंचती हो, रुचती हो, सही मालूम होती हो, कोई इसमें शक और शुब्हा न मालूम होता हो तो इस पर विचार करके, मनन करके, अनुभव करके देख लो। और देखो, यह जीवन का व्रत है कि मिली हुई वस्तु मेरे काम नहीं आयेगी। इसको स्वीकारकरना व्रत है। मिले हुए के द्वारा दूसरों की सेवा करना, यह व्रत है। बदले में कुछ नहीं चाहिए यह व्रत है। अगर ये तीन व्रत आप ले लेते हैं तो आपको वह जीवन जिसका कभी नाश नहीं होता, वह जीवन जिसमें जड़ता की गंध नहीं है, वह जीवन जो रस-रूप है, मिल सकता है। इतनीसी बात है। अब इतनी सी बात के लिए आप कितना समय लगायेंगे, यह आपकी मर्जी पर है। वास्तव में तो यह वर्तमान की चीज है।

देखो! इस व्रत को स्वीकार करना कि मिला हुआ मेरे लिए नहीं है, इसकी हमें स्वाधीनता है कि नहीं? अब यह शरीर छूटेगा तो मेरी क्षति होगी? मेरी तो नहीं होगी; क्योंकि मेरे लिए यह था ही नहीं। मिला हुआ मेरे लिए नहीं है। इसलिए अगर वह नाश होगा तो मेरी क्षति क्यों होगी! लेकिन हमें यह क्यों मालूम होता है कि मेरी क्षति हो जायगी। इसलिए मालूम होता है कि हम मिले हुए के द्वारा किसी-न-किसी प्रकार का सुख भोगते हैं। नेता बनने का शौक, राष्ट्रपति बनने का शौक, गुरु बनने का शौक, प्राइममिनिस्टर बनने का शौक यह जो हम भोगते हैं, इसलिए हमको मालूम होता है कि शरीर नाश हो जायगा तो हमारा बड़ा भारी नुकसान हो जायगा। अगर हमें पराधीनता-जनित सुख नहीं भोगना है या हमें पराधीनता-जनित सुख पसन्द नहीं

है, तो शरीर के नाश होने से मेरा क्या नुकसान हो जायगा ? कुछ भी नहीं। जैसे अभी लोग कहते हैं कि भाई स्वामीजी की वजह से हम को बड़ी सुविधा मिलती है। तो तुम सुविधा देना सीखो दूसरों को। अगर शरणानन्द ने तुमको सुविधा दी है तो तुम सुविधा दो दूसरों को। आदर दिया है तो आदर दो। प्यार दिया है तो प्यार दो। तो इस प्यार के आधार पर जब तुम कहते हो कि शरणानन्द का शरीर नाश नहीं होना चाहिए तो इस प्यार का महत्व है या शरीर का महत्व है ? अगर आपने भी इन तीनों बातों को मान लिया कि मैं दूसरों को आदर दूँगा, प्यार दूँगा तो आप और शरणानन्द एक हो गये कि दो रहे?

श्रोता–एक हो गये ?

जब एक हो गये तो आदर देने की भावना, प्यार देने की भावना, सहयोग देने की भावना–यह कभी नाश होगी ? यह सत्य है, कभी नाश नहीं होगी। तो यह मैं आपसे निवेदन कर रहा था कि अगर हमको सचमुच कोई आदमी ऐसा मिला है जिसने हम को आदर दिया है, प्यार दिया है, सहयोग दिया है, हमारे प्रति सद्भाव रखा है, तो इन बातों को हम अपना सकते हैं कि नहीं अपना सकते ?

एक दिन की घटना सुनायें आपको। हम लोग ट्रेन में जा रहे थे। संस्कृत कालेज के एक प्रिन्सिपल भी उसमें बैठे हुए थे। उनकी नौ साल की भतीजी (भाई की लड़की) का देहान्त हो गया था। उसके मोह में आबद्ध वे सज्जन बहुत दुःखी थे। और ट्रेन में प्रसंगवश, उस लड़की के गुणों का वर्णन कर रहे थे। गुणगान करते-करते उन्होंने यहाँ तक कहा कि एक दफा मैं बीमार हो गया तो वह बच्ची मेरे चारों ओर घूमी और कहा–

'हे भगवान ! मेरे चाचा जी अच्छे हो जायं, मैं चाहे मर जाऊँ ।' किसी बादशाह की भी यही बात है ।

श्रोता-बाबर की है ।

मैं मर जाऊँ । तो हमने जब उनको बहुत दुःखी देखा तो मैंने पूछा-पण्डित जी ! अगर वह लड़की जिन्दा रहती और बड़ी हो जाती तो उसकी शादी करते कि नहीं ? पण्डित जी बोले-'जरूर करते ।' तो आप से अलग होती कि नहीं ? बोले-जरूर होती । अगर लड़की के गुण आपको पसन्द हैं तो उन्हें धारण कर लीजिए और यह तो आप जानते ही हैं कि लड़की आप से अलग होती ! तो वही चीज आप से अलग हुई है, जो होती है। क्या उसके गुण अलग हुए हैं ? तो किसके लिए रोते हैं आप ? उस चीज के लिए रोते हैं जो अलग होती ही ! गुण तो अलग होते नहीं । वे बोले कि इस तरह से मैंने सोचा नहीं था । मैंने कहा-पण्डित जी ! अगर आपसे पूछा जाय मोह दुःख का मूल है । तो बोले-'इस पर किताब लिख सकता हूँ. लेक्चर दे सकता हूँ । "लेकिन क्या आपने यह अनुभव किया है कि मोह दुःख का मूल है ।' पण्डित जी एकदम शान्त और गम्भीर हो गये ।

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि अपने शरीर छूटने का दुःख न हमको होना चाहिए, न हमारे शरीर छूटने का दुःख किसी और को होना चाहिए । क्योंकि जिन कारणों से तुम इस शरीर को पसन्द करते थे, वे बातें तो आप अपने में भी रख सकते हो न ! क्या राय है ? जी ! तो मैं आपसे पूछता हूँ कि शरीर गुरु है कि जीवन का जो सत्य है वह गुरु है? अतएव जीवन के सत्य को स्वीकार कर आप सदा-सदा के लिए अपने गुरु से अभिन्न हो सकते हो । अगर यह बात आपको जँचे, रुचे, पसन्द आये तो थोड़ा मनन कर लिया जाय । हमारे जितने

पथ-प्रदर्शक हुए है, रहनुमा हुए हैं, उनमें जो खूबियाँ थीं, उनमें जो सत्य था, वह सत्य आज नहीं है क्या ? हम अपने पथ-प्रदर्शकों के सत्य को अपना नहीं सकते क्या ? मानव सेवा-संघ ने मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ बताया है कि भैया ! तुम सत्य को स्वीकार करो और सत्य कोई ऐसा तत्व नहीं है जिसे तुम नहीं जानते हो। उदार होना सत्य है, अचाह होना सत्य है, आत्मीयता स्वीकार करना सत्य है । बोले, आत्मीयता किससे स्वीकार करें ?–कि भाई, जिसका प्रेम आपको प्राप्त करना हो, उसकी आत्मीयता स्वीकार करना सत्य है । और अचाह होना सत्य है, उदार होना सत्य है, बुराई रहित होना सत्य है । जो जीवन का सत्य है उसे आप स्वीकार करें, इसी का नाम सत्संग है । और इस सत्संग से ही आपको साध्य की प्राप्ति हो जायगी, अर्थात आपकी माँग पूरी हो जायगी । सत्य को स्वीकार करना आपकी जिम्मेदारी है और माँग पूरी होना स्वाभाविक है । सत्य को स्वीकार करने से माँगपूरी हो जाती है। सत्य को स्वीकार करने का नाम सत्संग है । सत्य की चर्चा करें, सत्य का चिन्तन करें, किसी अंश में सत्यकार्य भी करें, किन्तु सर्वांश में सत्य को स्वीकार न करें तो हमारा काम बनेगा ? जी ! नहीं बनेगा । इसलिए महानुभाव ! हम सभी को मानव होने के नाते, साधक होने के नाते सत्य को सर्वांश में, सदा के लिए अपने द्वारा अभी स्वीकार करना है । यह आज की चर्चा का सार-सर्वस्व है ।

तो, जिस प्रभु ने हमें सत्य को स्वीकार करने की स्वाधीनता दी है, उस प्रभु की महिमा गायें और सत्य को स्वीकार कर सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य हो जायें । इसी सद्‌भावना के साथ आप सभी को बहुत-बहुत प्यार। ★

प्रवचन : २

संसार को नापसन्द करने में आप स्वाधीन हैं कि पराधीन ?

श्रोता–स्वाधीन।

ऐसे ही आप परमात्मा को पसन्द करने में भी स्वाधीन हैं। जो साधक संसार को नापसन्द करने में स्वाधीन है, वही साधक परमात्मा को पसन्द करने में स्वाधीन है। अब कठिनाई क्या होती है कि संसार को तो हम पसन्द करते रहते हैं और परमात्मा से मिलना चाहते हैं। यह कभी सम्भव नहीं होगा। संसार को पसन्द करते हुए परमात्मा से मिलना सम्भव नही। हाँ, एक बात है कि संसार के द्वारा हमें जो वस्तु प्राप्त है, उसे संसार की सेवा में लगा दें। जो सामर्थ्य प्राप्त है उसे भी सेवा में लगा दें। योग्यता प्राप्त है वह भी सेवा में लगा दें। हमसे गलती यह होती है कि सेवा तो हम करते नहीं, न वस्तु के द्वारा, न योग्यता के द्वारा, न सामर्थ्य के द्वारा, न सद्‌भाव के द्वारा। सेवा करते नहीं और चाहते हैं कि संसार हमको नापसन्द हो जाय। सो कैसे होगा भाई ? सेवा नहीं करोगे तो सेवा का उल्टा मालूम है क्या होता है ? –भोग। तो भोग करोगे। अगर सेवा नहीं करोगे तो भोग करोगे। अगर मिली हुई वस्तु-योग्यता-सामर्थ्य को सेवा-सामग्री नहीं बनाते हो तो वह भोग-सामग्री बन जायगी। और भोग करोगे तो मोह और आसक्ति में आबद्ध हो जाओगे।

क्या कारण है कि हमारे जीवन का मोह नाश नहीं होता, आसक्ति नाश नहीं होती ? इसलिए, कि हम सेवा नहीं करते हैं, भोग करते हैं । भोग होता है ममता से, कामना से, तादात्म्य से । इनके बिना भोग की सिद्धि नहीं होती । यदि हम सेवा करना पसन्द करें, तो सेवा होगी प्राप्त वस्तुसे, अप्राप्त से नहीं, प्राप्त से, प्राप्त सामर्थ्य से,प्राप्त योग्यता से प्राप्त से प्राप्त की ही सेवा होती है । क्या राय है ? अप्राप्त की सेवा होती है क्या ? और प्राप्त के द्वारा ही होती है । तो जो-जो वस्तु प्राप्त हैं,जो-जो व्यक्ति प्राप्त हैं,जो-जो योग्यता, सामर्थ्य प्राप्त हैं–उसके द्वारा प्राप्त व्यक्तियों की सेवा कीजिये अथवा प्राप्त परमात्मा को पसन्द कीजिये । प्राप्त की सेवा कीजिये; और प्राप्त ही परमात्मा को पसन्द कीजिये । तो जो संसार तुम्हें प्राप्त मालूम होता है तो वह तो आपका सेब्य हो गया और परमात्मा जो दिखाई नहीं देता वह आपका प्रिय हो गया । परमात्मा हमारा प्रेम पात्र है, संसार हमारी सेवा का सेव्य है । तो संसार की सेवा और परमात्मा का प्रेम, अगर आपको पसन्द आ जाय तो अभाव का अभाव हो सकता है। परमात्मा का प्रेम और संसार की सेवा आपको पसन्द आ जाय–यही सार निकला न ! समझ में आया कि नहीं ?

अब लोग गलती क्या करते हैं ? देखिये, हमसे गलती क्या होती है ? बड़े-बड़े लोगों से होती है । क्या करते हैं कि संसार की सेवा पसन्द नहीं करते, संसार की सहायता से शरीर को सुख-पूर्वक रखना पसन्द करते हैं । जरा गम्भीरता से सोचिये तो ! संसार की सहायता से, हमारे शरीर को भूख लगे तो भोजन मिल जाय, प्यास लगे तो पानी मिल जाय, नींद लगे तो बिस्तर मिल जाय, यानी जो-जो शरीर की जरूरतें पैदा हों वे

सब-की-सब पूरी होती जायं, इसको हम पसन्द करते हैं । नतीजा यह होता है कि शरीर की सारी जरूरत कभी पूरी नहीं होती । यह कभी नहीं होगा कि आपको हमेशा भूख लगती रहे और हमेशा ही भोजन मिलता रहे । हमेशा प्यास लगती रहे और हमेशा ही पानी मिलता रहे । हमेशा ही कामना उत्पन्न होती रहे और पूरी भी होती रहे । यही कारण है कि आज का साधक भटक रहा है, बड़ी बुरी तरह से भटक रहा है । किस बात के लिए ?–कि साहब किसी तरह से हमारे शरीर की आवश्यकता पूरी हो जाय । मान के रूप में, भोग के रूप में, जरूरत के रूप में । इसलिए भटक रहा है । तो जीवन का जो सत्य है वह हमें प्रेरणा देता है कि शरीर की आवश्यकता को समाज की मर्जी पर छोड़ दो और शरीर के द्वारा यथासम्भव समाज की सेवा करो । शरीर के द्वारा यथा-शक्ति सेवा करते रहो, शरीर की आवश्यकता को समाज की मर्जी पर छोड़ दो । अगर समाज शरीर की आवश्यकता को पूरी न करे, तो तुम्हें कोई घाटा नहीं पड़ेगा । क्यों ? क्योंकि, शरीर सदैव तुम्हारे साथ रहेगा ही नहीं । तो तुम्हारा क्या घाटा पड़ेगा ? किसी सेवा-परायण शरीर की समाज अगर परवाह नहीं करता, तो समाज की क्षति होती है कि सेवक की क्षति होती है ? क्या राय है ?

एक साधक–सेवा करने में बड़े झंझट आते हैं ।

स्वामी जी–भले आदमी ! मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि सेवा करने में झंझट आते हैं तो कौन सी प्रवृत्ति ऐसी है जिसमें झंझट नहीं हैं । सेवा माने प्रवृत्ति, प्रवृत्ति है दूसरे के हित के लिए । तुम अपने सुख के लिए प्रवृत्ति करते हो, दूसरे के हित के लिए नहीं करते । इसलिए झंझट मालूम होते हैं । तो झंझट तुम्हारी बेवकूफी में है कि सेवा में है ? मैं आपसे बड़ी नम्रता

के साथ यह बात निवेदन करना चाहता हूँ, इस पर लोगों को गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि जो लोग यह सोचते हैं कि शरीर हमारी रुचि-पूर्ति का साधन है, वे कभी भी शान्ति नहीं पाते। उनको कहीं भी, कभी भी शान्ति नहीं मिलती। शरीर है सेवा सामग्री। इसके द्वारा दूसरों की उस रुचि को पूरा करो जो तुम्हारे ज्ञान और सामर्थ्य के अनुसार है। सेवा का मतलब है कि जो बात तुम्हारी सामर्थ्य के अनुरूप है उसे पूरी करना है। जो कार्य तुम्हारे ज्ञान के अनुसार हैउसे करना है। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि ज्ञान और सामर्थ्य के अनुसार कार्य करने में भी कोई कठिनाई है ? कोई ईमानदार आदमी नहीं कह सकता है। तुमको सिर्फ उतना ही करना है जो तुम्हारे ज्ञान के अनुसार हो। या वही करना है जो तुम्हारी सामर्थ्य के अनुसार है।

मैं तो आपसे यह नम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि मेरे भाई! गम्भीरता से इस बात पर सोचो कि अगर हम सामर्थ्य विरोधी काम करने से इन्कार नहीं करते हैं, ज्ञान के अनुरूप जो कार्य है उसके करने से इन्कार नहीं करते हैं तो कोई नाराज नहीं होता। नाराज कब होता है ? सामर्थ्य है और इन्कार कर दे; ज्ञान के अनुसार है और इन्कार कर दे। सोने के लिए तो तुमको कमरा चाहिए, लेकिन आश्रम नहीं चाहिए ! फिर ! यहां से निकलोगे तब, तो किसी और के बनाये हुए घर में घुसेंगे। तो शरीर की आवश्यकता के लिए तो आपको संसार चाहिए, पर संसार के काम आने के लिए तुम्हारी छाती फटती है। सारी जवानी चल-चल कर बर्बाद करोगे, टुकड़े माँग-माँग कर बर्बाद करोगे, पर काम नहीं करोगे, सेवा नहीं करोगे। तो यह जीवन का सत्य नहीं है। जीवन का सत्य यह है–काम करो कुछ चाहो

मत। तब क्या होता है, तब तुम्हारी शारीरिक आवश्यकता सम्मान-पूर्वक पूरी होती है। आज हमको अगर कहीं जाने की जरूरत पड़ जाय तो मोटर माँगनी पड़ती है। श्री········ जी महाराज ने चातुर्मास यहां किया, तो सेठ ने पूरे तीन महीने के लिए मोटर दे दी। नया बना हुआ बंगला भी दे दिया रहने के लिए। मोटर भी दे दी और साधुओं की भिक्षा का इन्तजाम भी कर दिया सेठों ने। क्यों कर दिया? इसलिए कि वे सेठों की जरूरत से यहाँ आये, केवल अपनी जरूरत को लेकर नहीं आये। और तुम अपनी जरूरत को लेकर यहाँ आये, आश्रम की जरूरत को लेकर नहीं आये। इसलिए तुम्हें आदर नहीं मिला, प्यार नहीं मिला, सम्मान नहीं मिला। रोटी तो मिली–आठ बरस तक खाई तुमने रोटी।

तो मैं आपसे यह नम्र निवेदन कर रहा हूँ कि यह भ्रम निकाल दो कि तुम रुचि पूर्ति करते रहो और तुमको शान्ति मिल जाय। यह किसी काल में नहीं मिलेगी और आज तक किसी को नहीं मिली। शान्ति उसी को मिली है जो दूसरों के काम आया है अथवा जो अचाह हो गया, अथवा शरणागत हो गया है। चाहे तो प्रभु के शरणागत होकर प्रभु के नाते सेवा करो। चाहे अचाह होकर आत्मा के नाते सेवा करो। चाहे उदार होकर जगत के नाते सेवा करो। सेवा करने से जान बचेगी नहीं! कितना ही भटक लो। अनुभव कर लो, भटक लो, देख लो। जान नहीं बचेगी। हाँ सुख की दासता, दुःख के भय में बँधे रहोगे, सेवा नहीं करोगे तो। अगर सेवा करोगे तो सुख की दासता भी नाश हो जायगी, दुःख का भय भी नाश हो जायगा। परमात्मा भी मिल जायगा, शान्ति भी मिल जायगी, मुक्ति भी मिल जायेगी, भक्ति भी मिल जायगी। यह जीवन का सत्य है। ★★

उपसंहार

"अभी आपने पर-पीड़ा से द्रवीभूत हृदय से निसृत संत-वाणी में मनुष्य के व्यक्तित्व को सम्पूर्णता से प्रकाशित करने वाले चिरन्तन सत्य को सुना।"

व्यक्ति के कल्याण एवं सुन्दर समाज के निर्माण सम्बन्धी कोई ऐसी समस्या नहीं है कि जिसका समाधान श्री महाराज जी की वाणी के अनुसरण से न हो जाय। श्री महाराज जी के अनुसार मानव जीवन का सुन्दरतम् चित्र यह है कि :–

शरीर विश्व के काम आ जाय,
अहम् अभिमान-शून्य हो जाय; और
हृदय परम प्रेम से परिपूर्ण हो जाय।

इस आदर्श को उन्होंने अपने जीवन से हमें दर्शाया और अपने महाप्रयाण से भी यही पाठ पढ़ाया। जब उन्हें यह विदित हो गया कि उनका शरीर अब समाज की सेवा के योग्य नहीं रह गया, तब उस शरीर को त्यागने का समय, तिथि एवम् विधि भीतर ही भीतर निश्चित कर लिया और कहने लगे–

१–मैं त्रिकाल में भी शरीर नहीं हूँ।

२–शरीर के नाश से मुझे दुःख नहीं होगा। मैं बहुत आनन्द में रहूँगा।

३–बीच की यह उपाधि हट जायगी तो भक्त और भगवान के अनन्त मिलन का अनन्त आनन्द रहेगा। इसलिए इस शरीर के छूटने पर शोक-सभाएँ नहीं होंगी, सत्संग-समारोह होंगे।

४–शरीर की बैकुण्ठी नहीं सजेगी, प्रोसेशन नहीं निकलेगा। मैं क्रान्तिकारी सन्यासी हूँ। तुम लोग विधि-विधान में मत पड़ना। कुटी में से पार्थिव शरीर को निकाल कर आँगन में रख कर भस्म कर देना। शरीर की भस्मी मिट्टी में मिला दी जायगी, खाद बन जायगी। घास उगेगी, पशुओं का चारा बनेगा।

५–समाधिस्थल पर कोई चिन्ह नहीं बनेगा, फूल नहीं चढ़ेगा।

६–साधना का नाश नहीं होता है। अत: सेवा, त्याग, प्रेम का व्रत विभु होकर जन-समाज में फैलेगा।

७–इस शरीर की सेवा में जिसकी रुचि है, वह मानव-सेवा-संघ की सेवा करे, संघ मेरा शरीर है और वह स्थायी रहेगा।

८–जो लोग मुझे प्यार करते हैं वे भगवान को प्यार करें, क्योंकि भगवत्-प्रेम मेरा जीवन है।

९–जो उपदेष्टा भगवत्-विश्वास की जगह पर अपने व्यक्तित्व का विश्वास दिलाते हैं और भगवत्-सम्बन्ध के बदले अपने व्यक्तित्व से सम्बन्ध जोड़ने देते हैं, वे घोर अनर्थ करते हैं।

१०--सिवाय परमात्मा के और कुछ नहीं है, कुछ नहीं है……कुछ नहीं है।

११--व्यक्त-जगत की विविधता के भीतर अव्यक्त नित्य प्रम-तत्व के एकत्व के दर्शी संत ने कहा :--

(क) "कोई गैर नहीं है" यह धर्म का मंत्र है।

(ख) "कोई और नहीं है"--यह प्रेम का मंत्र है।

प्रिय साधकों, इस सत्य को मानो। सर्व-समर्थ प्रभु तुम्हारे अपने हैं। उनके होकर रहो, उन्हीं का काम करो। और यह सद्‌गुरु का आशीर्वचन है कि उन्हीं में तुम्हारा नित्य-वास होगा।

अमृतमयी वाणी को सुनाकर, योग-स्थित होकर नाशवान शरीर को स्वेच्छा से त्याग करके उन ब्रह्मनिष्ठ सन्त ने जीने की और मरकर अमर होने की कला हमें सिखायी।

उन संत-शिरोमणि के चरणों में हमारा शत्-शत् नमन। प्रार्थना करें–

......मेरे नाथ! आप अपनी सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतितपावनी, अहेतुकी कृपा से, मानव-मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें, एवम् हे करुणा सागर! अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का नाश करें। सभी का जीवन सेवा-त्याग-प्रेम से परिपूर्ण हो जाय।

ॐ शान्ति......शान्ति......शान्ति।

—:o:—

प्रवचन सूत्र

(१) परिवर्तनशील जगत की प्रत्येकवस्तु निरन्तर काल-रूप अग्नि में जल रही है, अतः वर्तमान में ही योग्यतानुसार प्रयत्न कर प्रेमपात्र से अभेद होने का प्रयत्न करना चाहिए।

(२) अपने को सब ओर से हटाकर अपने में ही अपने प्रेमपात्र का अनुभव करना अनन्य भक्ति है।

(३) स्वधर्म पालन करने में आई हुई कठिनाइयों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करना परम तप है।

(४) उन सभी संकल्पों का अन्त कर दो, जिन को जन समाज के सामने निर्भयता पूर्वक प्रकाशित नहीं कर सकते।

(५) अपने आप आने वाले सुख-दुःख का शासन अपने पर मत होने दो।

(६) सत्य की खोज के लिए सर्वस्व समर्पण कर दो।

(७) निर्बलताओं को मिटाने के लिए व्याकुलतापूर्वक प्रेम-पात्र से प्रार्थना करो।

(८) प्रेमपात्र के विरह तथा तत्व-विचार से हृदय शुद्ध कर लो।

(९) भलाई का चिन्तन भलाई से भी अधिक भलाई है, क्योंकि चिन्तन से दृढ़ता आ जाती है।

(१०) विषय-चिन्तन मिटाने के लिये भगवत्-चिन्तन का स्वभाव बनाओ।

(११) स्वार्थ-भाव मिटाने के लिये सेवा करने का स्वभाव बनाओ, क्योंकि सेवा करने से स्वार्थ-भाव मिट जाता है।

(१२) उस सुख का त्याग कर दो, जो किसी का दुःख हो।

(१३) उस दुःख को प्रसन्नता पूर्वक अपनाओ जिससे किसी का हित हो।

(१४) सत्य जीवन की जितनी रक्षा करता है उतनी और कोई कर नहीं सकता।

(१५) असत्य से जितनी क्षति होती है उतनी और किसी से नहीं होती है।

(१६) अहम् के नाश में अनन्त सामर्थ्य निहित है।

(१७) संसार से निराश होने में ही संसार के स्वरूप का ज्ञान निहित है।

(१८) जिसके न होने की वेदना है वह होने लगता है और जिसके होने की वेदना है वह अपने आप मिट जाता है।

(१९) कार्य उसी का सिद्ध होता है जो दूसरों के नाम आता है।

(२०) जिसकी अपनी कोई आवश्यकता नहीं रहती उसी की माँग सभी को होती है।

—:-:—

जुलाई–९३, ४०००

मूल्य : रु० ७·५०
Rs 8-00

सन्त-वाणी (भाग--३)

सन्त-वाणी (भाग--३)